

ॐ

सांख्य-दर्शन

(सरल हिन्दी व्याख्या सहित)

सम्पादक :

वेदमूर्ति तपोनिष्ठ

पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

चारों वेदों के भाष्यकार, गायत्री महाविद्या के
विशेषज्ञ एवं लगभग १५० ग्रन्थों के
रचयिता



प्रकाशक :

संस्कृति संस्थान

ख्वाजा कुतुब (वेद नगर)

बरेली २४३००१

प्रकाशक :

डा० चमनलाल गौतम
संस्कृति संस्थान
ख्वाजाकुतुब (वेदनगर)
बरेली (२४३००१)

*

सम्पादक :

पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

*

*

चतुर्थ संस्करण
१६७६

*

मुद्रक :

श्री ठाकुरदास शर्मा
कान्ता प्रिंटिंग प्रेस,
मथुरा.

*

मूल्य :

५ रु० ७५ पैसा

भूमिका

सांख्य-दर्शन भारतीय दर्शनों में सब से प्राचीन माना जाता है। इसके रचयिता महर्षि कपिल कहे गये हैं जो पुराणों के मतानुसार सतयुग के आरम्भ में ही प्रकट हुए थे। कपिल का 'आदि विद्वान्' और 'परम ऋषि' के नाम से भी उल्लेख किया गया है। भगवद्गीता में भी "सिद्धानां कपिलो मुनिः" कह कर उनके महत्व को विशेष रूप से प्रदर्शित किया है। वास्तव में सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सांख्य ने जो विवेचन किया है वह सब से अधिक आधुनिक वैज्ञानिक खोजों से सत्य सिद्ध होता है। जहाँ वैशेषिक और न्याय ने नौ द्रव्यों (मूल तत्वों) से सृष्टि की रचना बतलाई है, वहाँ कपिल ने सूक्ष्म दृष्टि से सृष्टि को केवल दो तत्वों से ही निर्मित माना है जो विज्ञान के नवीनतम सिद्धान्तों से बहुत मिलता-जुलता है।

'सांख्य' के नामकरण के विषय में विद्वानों की दो प्रकार की सम्मतियाँ मिलती हैं। कुछ लोग तो सांख्य का अर्थ संख्या या गणना मानकर कहते हैं कि चूँकि सांख्य में तत्वों के गुणों की और सृष्टि से सम्बन्ध रखने वाले अन्य विषयों की गणना करके सबकी संख्या नियत की है इससे वह 'सांख्य' कहलाता है। पर सांख्य सूत्रों का मनन करने वाले इस निर्णय को विशेष महत्व नहीं देते। वे कहते है कि 'सांख्य' का अर्थ है 'सम्यक ज्ञान'। किसी विषय में गुणों की छानबीन करके उसके सम्बन्ध में विवेकसम्मत जानकारी प्राप्त करना 'सांख्य' के अन्तर्गत आता है।

सांख्य-दर्शन की वास्तविकता के सम्बन्ध में भी काफी मतभेद दिखाई पड़ता है। अनेक विद्वानों का मत है कि वर्तमान समय में जो

सांख्य-दर्शन प्रचलित है वह कपिल का बनाया नहीं है, वरन् कपिल रचित सांख्य-दर्शन के नष्ट हो जाने पर किसी अन्य विद्वान् ने सांख्य के सिद्धान्तों का तत्व अन्य ग्रन्थों से लेकर इसकी रचना की है। पर एक विद्वान् ने खोज करके 'सांख्य-दर्शन का इतिहास' नामक पुस्तक में बतलाया है कि सांख्य-दर्शन असली है और मध्यकाल में उसमें किसी विद्वान् ने जैन, बौद्ध, पांचरात्र आदि मतो क खण्डन करने वाले कितने ही सूत्र मिला दिये हैं, जिनके कारण पाठकों को इस ग्रथ की प्राचीनता पर शङ्का उत्पन्न होजाती है। सांख्य-सिद्धान्त का एक छोटा ग्रन्थ 'तत्व-समास' मिला है जिसे विद्वानों ने बहुत प्राचीन और कपिल रचित बतलाया है, उसके मूल सिद्धान्तों से भी 'सांख्य-दर्शन' का विवेचन मिलता हुआ है। इसलिए हमने मूल ग्रंथ को ज्यों का त्यों रख कर ही उसका भाष्य प्रस्तुत किया है।

सांख्य-सिद्धान्त का दर्जा तत्वज्ञान की दृष्टि से बहुत ऊँचा है। प्राचीन काल से विद्वानों में यह कहावत प्रचलित चली आ रही है कि 'न हि सांख्य समं ज्ञानं न हि योग समं बलं।' वास्तव में सृष्टि के निर्माण में प्रकृति का विकास किस प्रकार हुआ और उसमें आत्मा का क्या स्थान है, इसका विवेचन कपिल ने जिस सूक्ष्म दृष्टि से किया है, वह सराहनीय है। इस तथ्य का प्रतिपादन करते हुए एक विद्वान का कहना है—

"सांख्य-दर्शन वास्तव में मनोवैज्ञानिक दर्शन है। इसके तत्व स्थूल नहीं हैं। वे हमारे बौद्धिक जगत के तत्व हैं। इस जगत में केवल सूक्ष्म तत्व ही हैं। उनके सम्बन्ध में विचार भी सूक्ष्म हैं। अतएव जिसमें जितनी बुद्धि होती है वह उतना ही सूक्ष्म विचार कर सकता है। इसलिए सांख्य के तत्वों के विचार में भेद होना असम्भव नहीं है। हाँ, मूल विचार में कोई भेद नहीं है। एक समय था जब सांख्य-दर्शन का

अध्ययन बहुत व्यापक रूप में होता था। खेद का विषय है कि आगे उसके रहस्य को विद्वान लोग भूल गये। प्राचीन परम्परा नष्ट हो गयी और विद्वानों ने सांख्य-भूमि को भी न्याय-वैशेषिक-भूमि के समान ही स्थूल जगत के तत्वों का प्रतिपादन करने वाला शास्त्र मान लिया। इसमें सन्देह नहीं कि बुद्ध के पश्चात् भारतवर्ष में बहुत ऊंचे दर्जे के विद्वान् हुए और उन्होंने दर्शनों के ऊपर बहुत विचार किया। इनकी विद्वता पाण्डित्यपूर्ण थी, पर बहिर्मुखी थी। जहाँ तक दार्शनिक विचार बाह्य जगत से विशेष सम्बन्ध रखता है, वहाँ तक तो इनके पाण्डित्य ने दर्शन शास्त्र में चमत्कार कर दिखाया, किन्तु जहाँ से उस विचार का क्षेत्र एक प्रकार से अलौकिक जगत में प्रवेश करता है, वहाँ इनका पाण्डित्य बहुत सफल नहीं रहा। वहाँ तो ज्ञानियों की अन्तर्दृष्टि होने से ही सफलता मिलती है।"

भगवद्गीता में भी सांख्य-निष्ठा को बहुत महत्व दिया गया है और उसको 'निष्काम कर्मयोग' का पूरक ही माना है। इसलिए गीताकार सांख्य और योग मे भेदभाव करने वालों को अज्ञानी समझते हैं— "सांख्य योगो पृथग्बालः प्रवदन्ति न पंडितः।" इनमें केवल इतना अन्तर माना गया है योग निष्ठा में गुणों का किसी न किसी अंश में सम्बन्ध रहता है और उनको ईश्वर को समर्पण करके वासनाओं का त्याग किया जाता है। सांख्य-निष्ठा पहले से ही तीनों गुणों का सर्वथा त्यागपूर्वक होती है और उसमें आत्मा को अकर्त्ता मानकर तीनों गुणों को ग्रहण और ग्राह्य रूप से वर्तता मान लिया जाता है।

सांख्य के पच्चीस तत्व—

सांख्य-शास्त्र में यह समस्त विश्व २५ तत्वों का खेल माना गया है। इनके दो मुख्य विभाग हैं–पुरुष और प्रकृति। इनमें से 'पुरुष' अथवा आत्मा तो चैतन्य स्वरूप है, वह न किसी तत्व से बनता है और न

उससे कुछ वनता है। प्रकृति के आठ विभाग माने गये हैं और उसमें से सोलह विकारों की (विकृति) उत्पत्ति कही गई है। आठ प्रकृतियाँ ये हैं—

१—मूल प्रकृति, २—महत्तत्व (बुद्धि), ३—अहंकार, ४—शब्द, ५—स्पर्श, ६—रूप, ७—रस, ८—गन्ध। शब्द से लेकर रस तक पाँच तन्मात्रायें कही जाती हैं। सांख्य में प्रकृति उसको कहते है जिससे आगे चलकर कोई अन्य तत्व उत्पन्न हो। इसीलिए बुद्धि और अहंकार के साथ पाँचों तन्मात्राओं को भी प्रकृति माना गया है क्योंकि उनसे ही सोलह विकृतियों की उत्पत्ति होती है। सोलह विकृतियाँ इस प्रकार हैं—

पाँच स्थूल भूत—आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ— श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना और घ्राण; तथा पाँच कर्मेन्द्रियाँ-वाणी, हाथ, पैर, उपस्थ और गुदा; ग्यारहवाँ मन कहा गया हे।

ये पाँच स्थूल भूत तथा मन सहित ग्यारह इन्द्रियाँ प्रत्यक्ष हैं और इनसे आगे चलकर किसी अन्य तत्व की उत्पत्ति नहीं होती, इस लिए इन्हें विकृति कहा गया है। ये ग्यारह जिन सूक्ष्म तन्मात्राओं से उत्पन्न होती हैं वे अनुभवगम्य हैं। जब कोई साधक अन्तर्मुख होकर ध्यान करता है तो उसे सूक्ष्म और निर्मूल शब्द, स्पर्श, रूप, रस, और गन्ध का ज्ञान होता है। जब इन पाँचों के भी मूल उद्‌गम की खोज की जाती है तो 'अहवृत्ति' का साक्षात्कार होता है। 'अहंकार' से भी ऊपर उठकर विचार करने से 'महतत्व' अथवा 'अस्मितावृत्ति' के दर्शन होते हैं। पर इसके ऊपर जब और किसी कारण का पता नहीं चलता तो अनुमान द्वारा 'महत्तत्व' को उत्पन्न करने वाली शक्ति को मूल-प्रकृति मान लिया जाता है जो कि अनादि है। इस प्रकार महर्षि कपिल ने जड़तत्व के जो चौवीस विभाग वतलाए हैं वे प्रत्यक्ष और

अनुभवगम्य हैं, केवल तर्क द्वारा सिद्ध नहीं किये गये हैं । यह मूल प्रकृति ही तीन गुणों-सत्, रज, तम् की न्यूनाधिकता के कारण जगत के विभिन्न तत्वों तथा नाम रूपों में प्रकट होकर विश्व-रचना करती रहती है ।

'पुरुष' अथवा चेतन तत्व--

पुरुष अथवा चेतन तत्व किसी जड़ पदार्थ की तरह अनुभव की चीज नहीं है, पर जब इस विश्व की, रचना और उसके प्रयोजन पर विचार किया जाता है तो स्वभावतः उसे स्वीकार करना पड़ता है । दर्शनशास्त्र का नियम है कि यदि हम अनुभव करते हैं तो उसका कोई कारण भी अवश्य होना चाहिए । जब विश्व के कार्यों में एक व्यवस्था, क्रम, चेतना पाई जाती है तो किसी 'चेतन' का होना भी आवश्यक है । सांख्य शास्त्र मे प्रकृति के २४ विभागों के पश्चात् जो पच्चीसवां 'पुरुष' या 'चेतन' माना है उसका प्रमाण देते हुए कहा है—

संघात् परार्थत्वात् त्रिगुणादि, विपर्ययात् अधिष्ठानात् ।
पुरुषोऽस्ति भोक्त्व भावात् कैवल्यार्थ प्रवृत्तेश्च ॥

"अर्थात् संघात् के परार्थ होने से, त्रिगुणादि के विपरीत होने से, अधिष्ठान से, भोक्ताभाव से और मोक्ष की ओर प्रवृत्ति होने से 'पुरुष'का अस्तित्व सिद्ध होता है ।"

सृष्टि की रचना और उसके संचालन पर ध्यान देने से पाँच ऐसे चिह्न दिखलाई पड़ते हैं जिनसे जड़ प्रकृति के अतिरिक्त एक चेतन तत्व की सत्ता भी माननी पड़ती है । (१) इस जगत में तरह-तरह के अनेक तत्व और पदार्थ दिखाई पड़ते हैं वे एक दूसरे से असम्बद्ध यों ही विखरे नहीं पड़े हैं, वरन वे एक 'समग्र' के भाग या अङ्गों की तरह हैं । विज्ञान का आरम्भ ही किसी नियम या व्यवस्था से होता है और उस व्यवस्था को समझना ही विज्ञान का उद्देश्य है । व्यवस्था का अर्थ

ही यह है कि कई प्रकार के भागों या अंगों की क्रिया में कोई पारस्परिक सम्बन्ध है जिसके द्वारा कोई विशेष प्रयोजन सिद्ध होता है। इस प्रकार का प्रयोजन उस क्रिया के करने वाले 'अङ्गों' के अपने लिए नहीं, वरन् किसी दूसरे के लिए–परार्थ–होता है, और वही पुरुष या चेतन है।

(२) कुछ लोग यह कल्पना करते हैं कि जिन तीन गुणों–सत् रज–तम् की न्यूनाधिकता होते रहने के कारण इस विश्व में तरह-तरह के परिवर्तन दिखाई देते रहते हैं. यह 'चेतन' भी उन्हीं का कोई परिणाम न हो? तो इस सम्बन्ध में सांख्य कहता है कि नहीं, चेतन के जो लक्षण दिखाई पड़ते हैं वे 'त्रिगुण' से विपरीत' हैं। प्रकृति का कार्य एक बँधे हुए नियम–सीमा के भीतर ही होता है। जो कुछ होता आया है, वही होता रहेगा। परन्तु मनुष्य की क्रियायें इस प्रकार अनिवार्य रूप से बन्धनयुक्त नहीं हैं। वह अपने सामने दिखाई पड़ने वाले अनेक मार्गों में से किसी एक को अपनी रुचि के अनुकूल चुन सकता है। जड़ प्रकृति इस प्रकार का कार्य नहीं कर सकती।

(३) जड़ पदार्थ तब तक क्रियाशील नहीं हो सकते और न किसी प्रयोजन की पूर्ति के लिए कोई क्रमबद्ध कार्य कर सकते हैं जब तक कोई उनका संचालन करने वाला अधिष्ठाता न हो। रथ तभी चल कर किसी नियत स्थान पर पहुँचता है जब उसे चलाने वाला कोई सारथी होता है। प्रकृति अचेतन है, वह तभी ठीक कार्य कर सकती है जब कोई उसका संचालन करने वाला हो।

(४) संसार में जितने पदार्थ दिखाई पड़ते हैं वे स्वयं अपना उपयोग नहीं कर सकते। प्रत्येक पदार्थ का उपयोग करने के लिए किसी चेतन व्यक्ति की आवश्यकता होती है जो उसका समयानुसार उचित प्रयोग करके कोई विशेष परिणाम उत्पन्न कर सके। इससे भी चेतन सत्ता का अस्तित्व सिद्ध होता है।

(५) हम देखते हैं कि मनुष्य पशु-पक्षियों की तरह केवल खाना, पीना, सोना आदि करके ही सन्तुष्ट नहीं हो जाता, वरन् उसके सामने एक आदर्श रहता है और वह अनेक ऐसे काम करता है, जिनसे उसका कोई लाभ या उद्देश्य पूर्ति नहीं होती, वरन् जिनका फल दूर भविष्य में निकलता है, जब कि उसका चिह्न भी नहीं रहता। इस प्रकार के उद्देश्यों में सबसे बड़ा उद्देश्य मुक्ति अथवा कैवल्यकी प्राप्ति है। अनेकों बुद्धिमान और ज्ञानी व्यक्ति इस बात के लिए ही पुरुषार्थ करते रहते हैं कि इस त्रिगुणात्मक प्रकृति के जीवन से छुटकारा पाकर मुक्त अवस्था को प्राप्त करलें। इस प्रकार की भावना और उसके लिए जन्म-जन्मान्तर तक उद्योग करने का निश्चय यह प्रकट करता है कि मनुष्य के भीतर कोई ऐसी चेतन सत्ता है जो इस जड़ प्रकृति से भिन्न है और इससे पृथक होकर अपने वास्तविक स्वरूप में मिल जाने की अभिलाषा और प्रयत्न किया करती है।

'पुरुष' का बहुत्व—

चेतन सत्ता के सिद्ध हो जाने पर यह प्रश्न उठता है कि उसका स्वरूप क्या है ? इस सम्बन्ध में वेदान्त का प्रसिद्ध सिद्धान्त तो यही है कि आत्मा और परमात्मा अभेद हैं, अर्थात् समस्त आत्माएं एक ही परमात्मा से अविभूंत होती हैं और उसी में लीन हो जाती हैं। पर सांख्य इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करता और वह प्रत्येक जीवात्मा की स्वतन्त्र सत्ता बतलाता है। इस सिद्धान्त की पुष्टि में वह तीन प्रमाण उपस्थित करता है—

जन्म-मरण करणानां नियमात् अयुगपत् प्रवृत्तेश्च।
पुरुषं बहुत्वं सिद्धम् त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव ॥

(सांख्यकारिका १८)

अर्थात् "जन्म-मरण और करणों (साधनों) के अलग-अलग होने

से नियम से, सब लोगों के एक साथ किसी काम को न करने से, तीनों गुणों के भेद से पुरुष का बहुत्व अर्थात् अनेक होना सिद्ध होता है।"

सांख्य-मत के आचार्यों का कथन है कि जन्म-मरण और इन्द्रियों के कार्यों में विभिन्नता रहने से सिद्ध होता है कि सब जीवात्मा एक दूसरे से भिन्न हैं। यदि ऐसा न होता तो एक व्यक्ति के जन्म लेने पर सब का जन्म हो जाता और एक के मरने से सब मर जाते। इसी प्रकार यदि एक अन्धा होता तो सबको अन्धा होना चाहिये था। दूसरी बात यह कि यदि जीवात्मा एक ही होता तो सब मनुष्यों की रुचि एक-सी ही दिखाई पड़ती। पर वस्तुस्थिति इससे सर्वथा विपरीत दिखाई पड़ती है। एक को रात दिन गपशप करना अच्छा लगता है और दूसरा मौन रहने में सन्तुष्ट रहता है। एक को खेल कूद से प्रसन्नता होती है और दूसरे को नर्म विस्तर पर लेटकर सुख का अनुभव होता है। एक ही जीवात्मा होने पर सबको एक ही कार्य से सुख मिलता। तीनों गुणों का प्रभाव भी सबमें पृथक-पृथक दिखाई देता है। एक विद्यार्थी सामान्य परिश्रम से ही विद्या को अच्छी तरह ग्रहण कर लेता है और दूसरा दिन-रात माथापच्ची करने पर भी उससे कुछ लाभ नहीं उठा पाता। इन भिन्नताओं को देखने से यही प्रतीत होता है कि 'पुरुष' या जीवात्मा एक न होकर अनेक ही हैं।

'पुरुष' अथवा चेतन का स्वरूप—

पर यह "पुरुष बहुत्ववाद" का सिद्धान्त सब विचारकों को पूर्णतः मान्य नहीं है। वे सांख्य-शास्त्र की उपर्युक्त 'कारिका' का सम्बन्ध केवल 'बद्ध पुरुष' से मानते हैं, जो कि प्रकृति से युक्त होकर जीव रूप में जन्म-मरण के चक्र में पड़ा हुआ है। पर जो पुरुष मुक्त अवस्था में है और जिसे सांख्य कारिकाओं, में 'ज्ञ' (ज्ञाता पुरुष) के नाम से

पुकारा है, उसे अनेक नहीं कहा जा सकता । इस सम्बन्ध में एक विद्वान का कथन है—

"कतिपय टीकाकारों ने इस 'ज्ञ' को 'अनेक' कहा है । हमारी समझ में नहीं आता कि वह किस प्रकार अनेक हो सकता है और किस आधार पर हम इसे अनेक कह सकते हैं । ईश्वरकृष्ण (सांख्य कारिका के लेखक) का अभिप्राय तो स्पष्ट है कि यह 'एक' है और इसी 'एकत्व' को लेखक इस 'ज्ञ' का साधर्म्य 'प्रकृति' के साथ उन्होंने कहा है— 'तथा च पुमान्' । पर बहुत से टीकाकारों ने ईश्वरकृष्ण के आश्रय पर ध्यान न देकर उसके 'पुरुष बहुत्ववाद' को 'बद्ध पुरुष' के बजाय 'ज्ञ' ज्ञाता पुरुष के साथ जोड़ दिया है । इसी से प्रभावित होकर इस देश के तथा पाश्चात्य देशों के प्रायः सभी विद्वानों ने 'सांख्य' में इसी पुरुषबहुत्ववाद को स्वीकार कर लिया है ।"

सांख्य में पुरुष तथा प्रकृति के द्वैत सिद्धान्त को माना गया । पर प्रकृति के दो रूप हैं—एक अव्यक्त जो अनुमान से जाना सकता है और दूसरा-व्यक्त-जिसे हम प्रत्यक्ष और अनुभव से जान सकते हैं । इस प्रकार व्यवहार में यह सिद्धान्त "त्रैत" तीन मुख्य पदार्थों को मानने वाला होजाता है । इन तीनों को सांख्य कारिका के लेखक ने इस वाक्य में प्रकट किया है—

व्यक्ताव्यक्तज्ञ विज्ञानात्, ।

अर्थात् "तीन पदार्थ ही मुख्य हैं व्यक्त अर्थात् दिखाई पड़ने वाला जगत, अव्यक्त अर्थात् मूल प्रकृति, 'ज्ञ' अर्थात् ज्ञाता पुरुष ।" इनमें से मूल प्रकृति और उसके २३ अन्य विभागों का वर्णन ऊपर किया जा चुका है । पुरुष का क्या स्वरूप है, इसका विवेचन करते हुए एक स्थान पर कहा गया है—

"ज्ञ" अथवा पुरुष एक परोक्ष विषय है। यह त्रिगुणातीत और निर्लिप्त है। इसलिए इसका अस्तित्व किसी प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध नहीं किया जा सकता और न इसके सम्बन्ध में किसी प्रकार का अनुमान किया जा सकता है। इसको जानने का एकमात्र साधन शब्द-प्रमाण या 'आगम' है। इस 'ज्ञ' का कोई हेतु या कारण नहीं है।"

पुरुष नित्य है अर्थात् न कभी इसकी उत्पत्ति है और न नाश। प्रकृति से पृथक अपने शुद्ध रूप में तो यह सर्वव्यापी है, पर प्रकृति से युक्त होकर मनुष्य के भीतर जीवात्मा के रूप में रहने की अवस्था में यह अव्यापक होता है। यह निष्क्रिय भी है क्योंकि किसी प्रकार की क्रिया 'व्यक्त' का धर्म है। इसमें किसी प्रकार के कर्तृत्व का भाव नहीं है। व्यक्त पदार्थ किसी अव्यक्त से उत्पन्न होने के कारण उसके आश्रित होता है, पर पुरुष किसी से उत्पन्न न होने के कारण अनाश्रित और कारणहीन होता है। यद्यपि वह प्रकृति के संयोग से जीवात्मा के रूप को ग्रहण कर लेता है जिनकी सख्या अनन्त है, तो भी उसका लक्ष्य सदैव प्रकृति के बन्धन से छुटकारा पाकर 'एकत्व' की स्थिति को प्राप्त करना ही होता है। यही जीव की मोक्ष कही जाती है। इस विषय का विवेचन एक अनुभवी साधक ने इस प्रकार किया है—

"सांख्य और योग में कैवल्य—जिसमें संसार का बीज-मात्र भी न रहे, अभिप्रेत है। इसलिए पुरुष संख्या १ (अर्थात् जीवात्मा) जो अनन्त अन्तःकरणों के सम्बन्ध से अनन्त है, जड़त्व अर्थात् ज्ञान रहित सक्रिय त्रिगुणात्मक प्रकृति और पुरुष संख्या २ (अर्थात् परमात्मतत्व) जो शुद्ध चेतन, निष्क्रिय, ज्ञान स्वरूप है, इन तीनों का ही विशेष रूप से वर्णन किया है। इन अनन्त जीवात्मा पुरुषों को सांख्य का ज्ञान (संन्यास, त्याग) ज्ञाता-पुरुष (परमात्म-तत्व) तक ले जाता है।

इसीलिए सांख्य शास्त्र में जीवात्मा-पुरुष को अनेक और ज्ञाता-पुरुष को एक बतलाया है। यह ज्ञाता-पुरुष शुद्ध ज्ञान स्वरूप है।"

तीनों गुणों से सृष्टि की उत्पत्ति—

सांख्य के अनुसार सत्-रज-तम् मूल प्रकृति के तीन गुण हैं जो किसी समय साम्यावस्था में रहते हैं और कभी विषम अवस्था में। जब ये गुण साम्यावस्था में होते हैं, उस समय को 'प्रलय' कहा जाता है। मूल प्रकृति और पुरुष के अतिरिक्त और कोई नहीं होता। फिर जब प्रकृति में संक्षोभ होता है तो तीनों गुणों में न्यूनाधिकता होने लगती है और सर्व प्रथम सत्वगुण की प्रधानता से महत्तत्व अथवा बुद्धि-तत्व की उत्पत्ति होती है। जब बुद्धि तत्व में रजोगुण की प्रबलता होती है तो अहङ्कार की उत्पत्ति होती है। जब अहंकार में तमोगुण की प्रबलता होने लगती है तो शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध—इन पाँच सूक्ष्म 'तन्मात्राओं' की उत्पत्ति होती है। जब तम की अधिकता बढ़ती है तब इन सूक्ष्म तन्मात्राओं से पाँच स्थूल भूतों अर्थात् आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी की उत्पत्ति होती है। इन्हीं पाँच महाभूतों के मिलने और तीनों गुणों की न्यूनाधिकता के फलस्वरूप बाद में भाँति-भाँति की स्थावर-जंगम सृष्टि प्रकट होती है।

गुणों का सम्बन्ध—प्रकृति के तीनों गुण यद्यपि एक दूसरे से विरुद्ध स्वभाव वाले हैं, पर वे सदैव एक साथ रहते हैं और उनके मिलने से ही सृष्टि की उत्पत्ति और विकास सम्भव होता है। इन गुणों के सम्बन्ध और प्रभाव को समझाने के लिए सांख्य-सिद्धान्त वाले दीपक का उदाहरण देते हैं कि जिस प्रकार तेल, बत्ती और अग्नि पृथक-पृथक पदार्थ हैं जो एक दूसरे से सर्वथा भिन्न जान पड़ते हैं और एक दूसरे के विरोधी हैं, पर इन तीनों के संयोग से ही प्रकाश की उत्पत्ति होती है।

यदि इन तीनों में से एक भी न हो प्रकाश कदापि नहीं हो सकता। इसी प्रकार सत्-रज, तम् भी विरोधी होते हुए सृष्टि निर्माण के कार्य को सिद्ध करते रहते हैं।

ये तीनों गुण साथ रहते हुए भी एक दूसरे को दवाने की चेप्टा करते रहते हैं जिसे सांख्य की परिभाषा में 'अभिभववृत्ति' कहते हैं। जिस समय रजोगुण और तमोगुण को दबा कर सतोगुण की वृद्धि होती है तो प्रगति और प्रकाश रूप धर्मों की अभिव्यक्ति होती है। जब सत्व और तम को अभिभूत करके रजोगुण प्रवल होजाता हैं तो अप्रीति और प्रवृत्ति रूप धर्मों की प्रधान रूप से अभिव्यक्ति होती है। जव तमोगुण शेष दोनों गुणों जो अभिभूत कर देता है तो विषाद और स्थिति रूप धर्मों की अभिव्यक्ति होती है। पर इनमें कोई भी गुण अकेला तव तक किसी भी धर्म या कर्म की अभिव्यक्ति नहीं कर सकता जब तक उसे शेष दोनों गुणों की भी सहायता प्राप्त न हो। सांख्य में इसे 'आश्रय-वृत्ति' कहते हैं। इसका आशय यही है कि जब तक जगत की स्थिति है उसके प्रत्येक पदार्थ, प्रत्येक प्राणो, प्रत्येक जीवात्मा में तीनों गुणों का अस्तित्व अवश्य पाया जायगा। जब जीवात्मा ज्ञान द्वारा गुणों के रूप को समझ कर और योग द्वारा प्रयत्न करके तीनों गुणों से छुटकारा पा लेता है तब वह मुक्त पुरुष हो जाता है।

कार्यकारण सम्बन्ध अथवा सत्कार्यवाद—

प्रकृति से यह बहुरंगी सृष्टि कैसे उत्पन्न हो गई यह प्रश्न प्रायः उठा करता हैं। भौतिक दृष्टि से विचार करने वाले दार्शनिक इसका संतोषजनक समाधान नहीं कर पाते। वे कार्य और कारण में कोई सम्बन्ध नहीं वतला सकते और केवल परमाणुओं द्वारा किसी रहस्य-नय तरीके से, जिसे वे 'स्वभाव' कहते हैं सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ के बन

जाने का प्रतिपादन करते हैं। पर सांख्य-शास्त्र की दृष्टि अधिक सूक्ष्म है और वह कहता है कि प्रत्येक कारण के भीतर कार्य पहले से ही मौजूद रहता है, चाहे वह वाह्य दृष्टि से विल्कुल दिखाई नहीं पड़ता। जिस प्रकार बरगद के अत्यन्त छोटे बीज में इतना विशालवृक्ष सूक्ष्म रूप से उपस्थित रहता है उसी प्रकार अव्यक्त मूल प्रकृति में दृश्य-जगत रूपी कार्य पहिले से ही मौजूद रहता है, केवल वह समय आने पर व्यक्त हो जाता है। इस दृष्टि से कारण और कार्य दो अलग बातें नहीं हैं वरन् एक ही चीज के दो पहलू हैं। 'उत्पत्ति' और 'विनाश' में न कोई नई चीज बनती है और न पुरानी नष्ट होती है, केवल अवस्था का परिवर्तन हो जाता है। सांख्य बड़ी दृढ़ता से इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है कि असत् से कभी सत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती। जो चीज पहले से किसी रूप में मौजूद नहीं है, वह किसी भी उपाय से उत्पन्न नहीं की जा सकती। सांख्य के इसी सिद्धान्त को 'गीता में' स्पष्ट शब्दों में कहा है—

नासतो विद्यते भावो ना भावो विद्यते सतः ॥

कार्य-कारण सम्बन्ध के इसी सिद्धान्त को सांख्य-ग्रन्थों में 'सत्कार्यवाद' के नाम से पुकारा गया है और उसको सिद्ध करने के लिए पाँच युक्तियाँ दी हैं जो इस प्रकार हैं—

(१) असद्करणात्— तात्पर्य यह कि जो वस्तु असत् हैं, जिसका कहीं अस्तित्व ही नहीं है वह कभी किसी उपाय से उत्पन्न नहीं हो सकती। इसलिए यदि 'कारण' में कार्य पहले से ही मौजूद न होता तो उससे कदापि प्रकट न हो पाता।

(२) उपदानग्रहणात्— किसी वस्तु को उत्पन्न करने के लिए किसी विशेष कारण (उपादान) की आवश्यकता होती है। वह

विशेष कारण ही उस कार्य या पदार्थ को उत्पन्न करने में समर्थ होता है, दूसरा 'कारण' उसे उत्पन्न नहीं कर सकता। इससे प्रतीत होता है कि उस कारण और कार्य में पहले से ही सम्बन्ध मौजूद था और उसी से वह उसे प्रकट कर सका। इसलिए जिस विशेष कारण से जो कार्य प्रकट हो सकता है वही उसका उपादान कारण है।

(३) सर्वसंभवाभावात्—यदि उपादान कारण के साथ कार्य का सम्बद्ध होना आवश्यक न होता तो उस कारण को 'उपादान' मानना तथा उस 'कार्य' के लिए उसी विशेष कारण का आश्रय लेना, व्यर्थ ही रहता। फिर तो हर एक कारण से हर एक कार्य को पूरा कर लिया जाता। जैसे तेल प्राप्त करने के लिये तिल, सरसों आदि किसी तिलहन को ही पेरा जाता है, बालू को कोई नहीं पेरता, उसी प्रकार प्रत्येक कार्य के लिए एक विशेष कारण का होना ही आवश्यक है, जिसमें वह कार्य पहले से ही विद्यमान रहता है।

(४) शक्तस्य शक्यकरणात्—मीमांसा दर्शन में प्रतिपादन किया गया है कि कारण में एक शक्ति रहती है वही कार्य को उत्पन्न करती है। यह आवश्यक नहीं कि कार्य को कारण में पहले से ही उपस्थित माना जाय। इसका समाधान करते हुए सांख्य-शास्त्र ने बतलाया है कि किसी कारण में ऐसी उत्पादक शक्ति है, यह भी तो उस कार्य को देखकर ही बतलाया जा सकता है। अर्थात् उस कारण से उस कार्य के सम्बन्ध रहने से ही शक्ति की बात कही जाती है। इससे यही सिद्ध होता है कि कारण में कार्य पहले से ही विद्यमान था।

(५) कारणभावात्—सांख्य में कारण और कार्य में अभेदता मानी जाती है अर्थात् कारण हो तो कार्य भी है और कार्य है तो कारण भी है। सत् रूप कारण के साथ असत् रूप कार्य का सम्बन्ध कदापि नहीं हो सकता।

इस प्रकार सांख्य यह सिद्ध करता है कि विश्व रचना या सृष्टि की उत्पत्ति के सभी कार्य मूल प्रकृति में पहले ही अव्यक्त रूप से उपस्थित रहते हैं जो समय आने पर प्रकट हो जाते हैं।

सांख्य का साधन मार्ग—

सांख्य-शास्त्र के प्रथम सूत्र ही में कहा गया कि "अथ त्रिविध दुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्त पुरुषार्थः"। अर्थात् तीनों प्रकार के दुखों की अतिशय निवृत्ति हो जाना—उनका किसी रूप में चिह्नमात्र शेष न रहना ही अत्यन्त पुरुषार्थ अर्थात् मनुष्य जन्म का ऊँचे से ऊँचा लक्ष्य है। यद्यपि साधारण व्यक्ति सांसारिक धन सम्पत्ति के उपार्जन को ही सबसे बड़ा पुरुषार्थ मानते हैं क्योंकि उसके द्वारा प्रायः सभी प्रत्यक्ष आवश्यकताओं और भावों की पूर्ति हो सकती है। लोगों की इस भावना को समझकर दूसरे सूत्र में इस विचार का निराकरण करने के लिए कहते है—"न दृष्टातत्सिद्धिर्निवृतेऽप्यनुवृत्तिदर्शनात्" अर्थात् दृष्ट (लौकिक सम्पत्ति आदि) उपायों के अत्यन्त दुःखनिवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि एक दुःख के निवृत्त होने पर भी अन्य दुःखों की अनुवृति (सिलसिला) लगी रहती है। फिर यह सांसारिक साधन स्थाई नहीं होते। इनके बदल जाने या नष्ट हो जाने में कुछ भी देर नहीं लगती। अनेक लखपती और करोडपतियों के किसी भी घटनावश देखते-देखते गरीब हो जाने के उदाहरणों की कमी नहीं है।

यह सत्य है कि सामान्य सांसारिक आवश्यकताओं और अभावों की पूर्ति धन से हो जाती है। जैसे भूख लगने पर वह धन द्वारा निवृत्त हो जाता है, वस्त्र. निवास स्थान, आवागमन, गर्मी, सर्दी से बचाव आदि आवश्यकतायें भी धन से पूरी हो जाती हैं। इसके सिवाय नित्य प्रति की शारीरिक आवश्यकताओं की तरफ से निश्चिन्त हो जाने पर

मनुष्य पारलौकिक कल्याण के लिए भी कुछ प्रत्यन कर सकने में समर्थ हो सकता है। इस दृष्टि से महर्षि कपिल ने सांसारिक साधनों की प्राप्ति को भी 'पुरुषार्थ' माना है, पर वह उसे अत्यन्त पुरुषार्थ इसलिए नहीं मानते क्योंकि उसी के द्वारा मनुष्य-जन्म के सर्वोच्च लक्ष्य की पूर्ति नहीं हो सकती।

तब अत्यन्त दुःख निवृत्ति के लिए किस साधन का आश्रय लिया जाय ? सांख्य के मतानुसार सर्वोच्च लक्ष्य की प्राप्ति का साधन विवेक' है जिससे जड़ और चैतन्य अथवा प्रकृति और पुरुष का वास्तविक ज्ञान हो जाय। यद्यपि हम सुनते और कहते रहते हैं कि आत्मा शरीर से पृथक है, पर यह विषय इतना सहज नहीं है और न केवल कथन मात्र से वह हमारा कुछ उपकार कर सकता है। यद्यपि पुरुष अथवा आत्मा शुद्ध चैतन्य रूप, निर्विकार और निर्लेप है, परन्तु संसार में आकर प्रकृति के संयोग से वह अपने को प्रकृति से घुला-मिला समझने लगता है। जब मनुष्य कहता है कि "मैं सुखी हूँ" "मैं दुःखी हूँ।" "मैं बीमार हो गया हूँ" तो इसका आशय यद्यपि शरीर से होता है तो भी जीवात्मा भी उन सुख और दुःख को अपने लिए मान लेता है। बहुत ही थोड़े ऐसे व्यक्ति होंगे जो ऐसे अवसर पर सुख, दुःख तथा बीमारी को केवल प्रकृति का—शरीर का ही धर्म मानें और इसलिए उससे किसी प्रकार प्रभावित न हों। यही अविवेक या अज्ञान का भाव जीव को कर्म बन्धनों में बाँधे रहने और बार-बार मरकर विभिन्न प्रकार की जीवयोनियों में जन्म लेते रहने को विवश करता है।

यद्यपि सांसारिक सुख-दुःखों का अनुभव बुद्धि को ही होता है। पर पुरुष (जीव) उसके सम्पर्क में रहने के कारण अपने को उन सुख-दुःखों का भोक्ता मान लेता है। वह भ्रमवश दूसरे सुख-दुखों का आरोप अपने ऊपर कर लेता है, इसी से उसे व्यर्थ में परेशान होना

पड़ता है। इन अवस्था को स्पष्ट करने के लिए एक लेखक ने हमारे व्यावहारिक जीवन का एक उदाहरण दिया है जिससे जीवात्मा के दुःख और भ्रम की बात सहज में समझी जा सकती है—

"किसी सेठजी का एक नौकर था जो बड़ा चंचल और धूर्त था। एक दिन वह सेठजी के साथ किसी मेले में गया। वहाँ वह किसी अन्य तमाशबीन से झगड़ा कर बैठा और इस पर पुलिस ने उसे पकड़ कर हवालात में बन्द कर दिया। यह नौकर का ही अपमान था परन्तु सेठजी ने इसे अपना ही अपमान समझा और वे नाराज होकर अधिकारियों के पास इसकी शिकायत करने गये। "यह दुःख सम्बन्धी उदाहरण हुआ। अब सुख या सम्मान का उदाहरण देखिए। "देवदत्त का पुत्र ऊँची परीक्षा में प्रथम पास हुआ और उसे सुवर्ण पदक दिया गया। पुत्र की प्रसन्नता का कारण समझा जा सकता है, परन्तु पुत्र के इस सम्मान से उसका पिता देवदत्त भी अपने को सम्मानित मानता है और आनन्द से गद्‌गद् हो जाता है।" ठीक यह दशा प्रकृति और पुरुष के परस्पर सम्बन्ध की है। प्रकृति के सुख से पुरुष (जीव) अपने को सुखी मानता है और उसके दुःख से दुःखी समझने लगता है। यही है संसार का प्रपंच। यही है दुःख कारण। इसी भ्रमयुक्त आरोप से पुरुष अपने को दुःखी मानता है। इस आरोप का जब अन्त हो जाता है तभी दुःखों का अन्त हो जाता है। इसी को सांख्य-शास्त्र में 'विवेक ख्याति' कहते हैं।'

सांख्य-सिद्धान्त के प्रमुख ग्रन्थ 'सांख्य कारिका' में कहा गया है कि मूल प्रकृति महत्-तत्व से लेकर स्थूल भूतों तक जो सृष्टि रचती है, उसका उद्देश्य व्यष्टि रूप पुरुष (जीवात्मा) को मुक्त करके परमात्मा से मिलना ही है। सृष्टि-रचना करने के लिए प्रकृति किसी की सहायता नहीं लेती। केवल पुरुष का विम्ब उस पर पड़ने से वह चैतन्य की तरह काम करने लगती है। उधर प्रकृति का विम्ब पुरुष पर पड़ता है

तो वह निष्क्रिय, निर्लिप्त, तीन गुणों से परे होने पर अपने को भो कर्त्ता, भोक्ता, आसक्त अनुभव करने लगता है। 'पुरुष' को मुक्ति प्राप्त कराने के लिए प्रकृति तरह-तरह के उपाय करती है। चूँकि एक जन्म में पूर्ण ज्ञान होकर मुक्ति मिलना सम्भव नहीं होता, इसलिए प्रकृति पुरुष के अवस्थान तथा अनुभव प्राप्त करने के निमित्त एक के बाद एक शरीर बनाती जाती है। एक शरीर से दूसरे शरीर में जाने का साधन 'सूक्ष्म शरीर' होता है जिसे प्रकृति सृष्टि के आदि में ही रचती है। इस सूक्ष्म शरीर में महत्तत्व, अहंकार, ग्यारह इन्द्रियां तथा पाँच तन्मात्रायें होती हैं। यह 'सूक्ष्म शरीर' स्वतन्त्र रूप से भोग करन मे समर्थ नहीं होता, इससे वह किसी न किसी स्थूल शरीर के आश्रित होकर ही रहता है। इस प्रकार वह क्रम से विकसित होता हुआ विवेक को प्राप्त करता जाता है और जब वह प्रकृति के और अपने वास्तविक स्वरूप को पहचान कर अपने स्वरूप में स्थिर हो जाता है, तो उसकी मुक्ति हो जाती है।

अब मोक्ष के स्वरूप पर विचार करते हैं तो जैसा ग्रन्थ के आरम्भ में कहा गया है कि दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति का नाम ही मोक्ष है, इसी सिद्धान्तानुसार प्रकृति और पुरुष के स्वरूप तथा दुःख निवृत्ति के उपायों पर विस्तारपूर्वक विचार करने के उपरान्त फिर ग्रन्थ के अन्त में (६-७०) उसी बात को कहा गया है कि।

यद्वा तद्वा ततुच्छित्तिः पुरुषार्थस्तदुच्छित्तः पुरुषार्थः।

अर्थात् "भव-बन्धन का कोई भी निमित्त हो उसका उच्छेद होना ही पुरुषार्थ है।" इसी अध्याय के पाँचवें सूत्र में कहा गया है—"अत्यन्त दुःखनिवृत्या कृतकृत्यता" अर्थात दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति का हो जाना ही मोक्ष है। साधारणतया ऐसा होता है कि दुःख थोड़े समय के लिए मिट जाते हैं, पर कुछ समय बाद वे पुनः लौट आते हैं।

पर जब 'विवेक-ख्याति' प्राप्त करके मनुष्य दुःखों को 'अत्यन्त' सदा के लिए बिल्कुल मिटा देता है तो कृत्यकृत्य हो जाता है अर्थात् अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है।

यह ज्ञान कैसे प्राप्त हो इसके लिए कई मार्ग बतलाये गये हैं। कुछ लोगों की अनेक जन्मों के साधन के फलस्वरूप यह जन्म से ही हो जाता है। कुछ लोगों को गुरु के उपदेश से प्राप्त होता है और कुछ को सत्सग और शास्त्र अध्ययन से। किसी भी प्रकार हो, जब मनुष्य यह अनुभव कर लेता है कि मैं प्रकृति-जड़-तत्व से पृथक चैतन्य रूप हूँ और मुझे इस पंचभौतिक जगत के व्यवहारों और घटनाओं से कुछ लेना देना नहीं है, तब वह जीवन मुक्त हो जाता है। उसके पश्चात् सांसारिक सुख-दु:ख उसे कुछ भी प्रभावित नहीं कर सकते। पर जब तक पुराना प्रारब्ध समाप्त नहीं होगा, तब तक उसे शरीर धारण किये रहना पड़ता है। जब वह भोग पूरा हो जाता है तो संस्कारों का भी नाश हो जाता और देह का अन्त होकर उसे 'विदेह कैवल्य' प्राप्ति होती है। इसी तथ्य को उपनिषदों में स्वीकार किया गया है। मुण्ड-कोपनिषद् में सामक के सर्व सङ्कल्प शून्य हो जाने पर मुक्तावस्था का वर्णन इस प्रकार किया है—

गताः कलाः पंचदश प्रतिष्ठा देवश्च सर्वे प्रति देवतासु।
कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्वं एकीभवन्ति ॥
यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद विमुक्त परात्पर पुरुष मुपति दिव्यम्।

अर्थात् उनकी पन्द्रह कलायें अपने-अपने कारणों में चली जाती हैं, और समस्त इन्द्रियां अपने सदृश्य देवताओं (मूल तत्वों) में चली जाती हैं। जिस प्रकार बहती हुई नदियां समुद्र में अस्त हो जाती

हैं और अपना नाम और रूप खो देती है इसी प्रकार शुद्ध, निर्गुण ब्रह्म का जानने वाला ज्ञानी नाम रूप से अलग होकर, परे से परे जो दिव्य पुरुष (परमात्मा) है, उसमें लय हो जाता है।"

मोक्ष मार्ग के साधन--

सांसारिक दुःखों से छुटकारा पाकर मोक्ष की स्थिति तक पहुँचने का मुख्य साधन ज्ञान या विवेक है। पर यह ज्ञान साधारण कहने-सुनने से नहीं मिल सकता, वरन उसके लिए उस मार्ग की सब विघ्न बाधाओं को विधिवत हटाना आवश्यक होता है। मनुष्य का जीवन आन्तरिक स्थिति और वाह्य स्थिति की अनुकूलता और सामंजस्य पर निर्भर है। अनेक सांसारिक कारणों और परिस्थितियों के बीच में आने से यह अनुकूलता अपूर्ण रहती है जिससे मनुष्य को असंतोष रहता है। जब तक असन्तोष बना रहेगा, तब तक मुक्ति की आशा भी कैसे की जा सकती है। इसके दो ही उपाय हैं या तो हम सांसारिक दृष्टि से अपनी समस्त कामनाओं को पूर्ण करने में समर्थ हों या अपनी परिस्थिति के अनुसार अपनी इच्छा को सीमित बनायें। इनमें से पहला उपाय तो असम्भव है क्योंकि प्रथम तो सब प्रकार की कामनाओं की निरन्तर इच्छानुसार पूर्ति होते जाना ही कठिन है और यदि किसी प्रकार ऐसा भी हो सके तो इस प्रकार सांसारिक साधनों के प्राप्त करने में अन्य प्रकार के असंतोष उत्पन्न होते हैं। सांख्य शास्त्र में इन 'असन्तुष्टियों' की संख्या पाँच बतलाई है—(१) इनके प्राप्त करने में दुःख (२) रक्षा में दुःख (३) इनके नशे में दुःख, (४) भोग में दुःख क्योंकि भोग करने से कामना बढ़ती जाती है और (५) दूसरों की हिंसा का दुःख, क्योंकि बिना किसी अन्य प्राणी की हानि किये या उसे दुःख पहुँचाये भोग प्राप्त नहीं होते।

इन पांचों प्रकार के दुःखों का अध्ययन करके अपनी मनोवृत्ति में ऐसा परिवर्तन करना आवश्यक है कि अनासक्त भाव से कार्य करते हुए

प्रत्येक स्थिति में सन्तुष्ट रह सकें और कामनाओं की पूर्ति के लिए अनुचित कामों का सहारा न लेना पड़े।

पांच प्रकार की तुष्टियाँ—इन पांच बाहरी असन्तुष्टियों के अतिरिक्त आंतरिक या मानसिक कारण भी ऐसे हैं जो आत्मोत्कर्ष के मार्ग में बाधा स्वरूप सिद्ध होते है। उनका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

(१) प्रकृति तुष्टि कुछ लोगों की मान्यता होती है कि प्रकृति, पुरुष (जीव) को भोग और मोक्ष दिखाने के लिए स्वयं ही उसे विकास के मार्ग पर चलाती रहती है, इसलिए कभी न कभी वह हमको स्वतः कैवल्य स्थिति तक पहुँचा देगी। ऐसी दशा में हम ध्यान, समाधि आदि द्वारा क्यों प्रयत्न करें? पर यह विचार इसलिए गलत है कि प्रकृति, पुरुष की इच्छा के अधीन रहकर कार्य कर रही है। यदि पुरुष स्वयं मोक्ष के साधन की उपेक्षा कर रहा है तो प्रकृति उसके लिए क्या कर सकेगी?

(२) उपादान तुष्टि—कुछ लोग शास्त्रों के इस प्रकार के वचनों पर भरोसा करके बैठ जाते हैं कि सन्यास ग्रहण कर लेने से मुक्ति स्वयं ही प्राप्त हो जाएगी। पर इसमें यह विचार करना चाहिए कि सन्यास तो एक चिह्न है यदि उसमें धारणा, ध्यान, समाधि द्वारा आत्म साक्षात्कार का प्रयत्न न किया जाये तो केवल वस्त्रों के रंग लेने से कोई उद्देश्य सिद्ध नहीं हो सकता।

(३) काल तुष्टि—अनेक व्यक्तियों का ऐसा विचार देखा जाता है कि समय आने पर स्वयं ही मुक्ति हो जायगी। यह भी इसीलिए ठीक नहीं क्योंकि काल तो सभी तरह के उद्देश्यों की पूर्ति का समान रूप से हेतु होता है। उसमें जिस प्रकार उन्नति होना सम्भव है वैसे ही अवनति होनी भी सम्भव है।

(४) भाग्य-तुष्टि एक भरोसा भाग्य का भी होता है कि जब भाग्य अनुकूल होगा तो मुक्ति का सुयोग मिल जायगा। पर ज्ञानी लोग जानते हैं कि भाग्य का कारण भी हमारा पुरुषार्थ ही होता है। आलसियों का साथ भाग्य नहीं देता।

ये तुष्टियाँ मुक्ति-प्राप्ति की साधक होने की बजाय बाधक सिद्ध होती हैं, क्योंकि इसके कारण मनुष्य अपने प्रयत्न से विरत हो जाता है और प्रकृति काल का भाग्य आदि का भरोसा करके व्यर्थ में कालयापन करने लगता है। यह विचार-धारा भ्रमपूर्ण है। आत्मोन्नति के लिए निरन्तर पुरुषार्थ करते रहना और प्रकृति-मार्ग पर चलते रहना अनिवार्य है।

आठ प्रकार की सिद्धियां—

जिन उपायों से साधन-मार्ग में अग्रसर होने में सहायता मिलती हैं, उनको 'सिद्धि' कहा गया है। इस सम्बन्ध में सांख्य-कारिका में कहा है—

ऊहः शब्दोऽध्ययनं दुःखविघातास्त्रयः सुहृत्प्राप्ति।
दानं च सिद्धियोऽष्टौ सिद्धेः पूर्वोऽङ्कुशास्त्रिविधः।

अर्थात्—"ऊह, शब्द, अध्ययन, सुहृत्प्राप्ति और दान–ये सिद्धियां हैं और तीन दुःखों को मिटाने वाली सिद्धियाँ उनके फलस्वरूप हैं।"

(१) ऊह का तात्पर्य जन्मजात योग्यता से है, जो प्रायः पूर्व-जन्म के विशेष संस्कारों का फल माना जाता है। जिनको ऐसी योग्यता प्राप्त होती है, उनके अन्तर में स्वयं तत्वज्ञान उत्पन्न होता है।

(२) शब्द—इनका तात्पर्य गुरु द्वारा ज्ञान का प्राप्त होना और उससे आध्यात्मिकता की तरफ अग्रसर होना है।

(३) अध्ययन-हम एक या अधिक गुरुओं से कुछ विद्या प्राप्त

कर लेते हैं, पर इस प्रकार हमको पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। इसके लिए निरन्तर अध्ययन करते हुए ज्ञान, वृद्धि करते जाना ही निश्चित मार्ग है।

(४) सुहृत्प्राप्ति—इसका आशय यह है कि अनेक बार हमको अकस्मात् किसी विद्वान या सन्त से मिलने का अवसर मिल जाता है, जिससे हमको सहज में यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है।

(५) दान—दानशील व्यक्ति को सत्संगति का अवसर अधिक मिलता है, उसका हृदय भी पवित्र होता जाता है। इसलिए उसको मिलने वालों से ज्ञान की प्राप्ति की अधिक संभावना रहती है।

ये पांच मार्ग तत्वज्ञान की प्राप्ति के हैं। जो साधक सावधान रह कर इन साधनों को प्राप्त करने का प्रयत्न करता रहता है, उसे कोई न कोई सहायक अथवा मार्ग-दर्शक मिल ही जाता है जिससे यह शेष तीन सिद्धियों को प्राप्त कर लेता है जो इस प्रकार हैं—

(१) आध्यात्मिक दुःखहान—अर्थात् सब प्रकार के आध्यात्मिक दुःखों को मिट जाना।

(२) आधिभौतिक दुखःहान—सब प्रकार के आधिभौतिक दुःखों से बचे रहना।

(३) आधिदैविक दुःखहान—समस्त आधिदैविक दुःखों का छूट जाना।

बन्धन और मोक्ष—

इस प्रकार सांख्य-शास्त्र ने अध्यात्म-मार्ग में प्रगति करने के जो साधन बतलाये हैं, उनका लक्ष्य उन बन्धनों से छुटकारा पाना ही है, जो प्रकृति के सहचर्य से उसे प्राप्त हो जाते हैं, या जिनमें अपने को

बँधा हुआ अनुभव करने लगता है। इसका मुख्य उपाय तो 'ज्ञान' ही है जैसा सांख्य दर्शन के ३—२३ सूत्र में कहा गया है—

ज्ञानान्मुक्ति

ज्ञान का अर्थ है चेतन-अचेतन या पुरुष और प्रकृति के भेद को स्पष्ट रूप से समझ कर हृदयङ्गम कर लेना क्योंकि यही मुक्ति का एक-मात्र साधन है। जीव जितना ही अपने को भौतिक प्रकृति का संसार का एक अङ्ग समझता जायगा, उतना ही वह बन्धनों में फँसता चला जायगा और जितना ही वह चेतन-अचेतन के भेद को समझकर अपने चेतन रूप का अनुभव करने लगेगा, उतना ही मुक्ति के समीप पहुँचता जायगा। इसी को स्पष्ट करने के लिए अगले सूत्र (३—२४) में कह दिया है—

बन्धो विपर्ययात्

अर्थात्—"ज्ञान से विपरीत जो अज्ञान या अविवेक है, उसके होने से सम्बन्ध होता है।" जब तक मनुष्य को आत्म ज्ञान नहीं होता तब तक वह सांसारिक सुख और सम्प्रदाओं को ही जीवन का सार समझकर उनमें लिप्त रहता है और मनुष्य जन्म के सर्वोच्च ध्येय मुक्ति या अपवर्ग की तरफ से उदासीन रहता है। इन अवस्था का वर्णन करते हुए एक व्याख्याकार ने लिखा है —

जैसा हम देख चुके हैं, प्रकृति का विकास पुरुष की दृष्टि में होता है। इस संयोग का असर पुरुष पर भी पड़ता है वह भ्रम में समझने लगता है कि जो कुछ हो रहा है, वह बाहर नहीं उसके अन्दर हो रहा है। वह प्रकृति में इतना विलीन हो जाता है कि अपने आपको उससे अलग देख नहीं सकता। यह अविवेक ही उसका बन्धन है और इससे छूटना ही मोक्ष है। प्रकृति की क्रिया पुरुष को बन्धन से मुक्त करने के लिए है। 'कारिका' में इस क्रिया को नाटक की अभिनेत्री

के अभिनय से उपमा दी गई है। जो लोग नाटक देखने जाते हैं वे कुछ समय के लिए अपने आप को भूल ही जाते हैं। नटों और नटियों के साथ वे अपने को संयुक्त कर लेते हैं, और उसके साथ हँसते और रोते हैं। पीछे जब अनुभव करते हैं कि नट और नटियाँ तो निर्वाह के लिए अभिनय करते थे और उनका हर्ष-शोक निरा दिखलावा था, तो उन्हें अपना हर्ष-शोक भी निरर्थक दीखने लगता है। इस परिवर्तन का कारण यह होता है कि दर्शक नट और नटियों को उनके वास्तविक रूप में देखने लगता है। जगत के सम्बन्ध में ऐसा ही ज्ञान हो जाना 'विवेक' कहलाता है।"

सांख्य सूत्र में यह जो कहा गया है कि मोक्ष का एकमात्र उपाय ज्ञान है, उस पर कुछ लोग प्रश्न करते हैं कि इसमें कर्म की उपेक्षा क्यों की गई ? तो इस सम्बन्ध में अन्यत्र यह कहा गया है कि कर्म भी सर्वथा निरर्थक नहीं, पर उसका फल सीमित है। सांख्य-कारिका (४४) में कहा गया है कि 'धर्म की गति ऊपर की ओर अधर्म की नीचे की ओर होती है।" सांख्य में १४ प्रकार सृष्टि मानी गई है, जिनमें से ८ मनुष्य जीवन से उत्तम देव श्रेणी के हैं और ५ पशु, पक्षी, सरीसृप कीट आदि नीची श्रेणी के हैं। कर्मकाण्ड के अनुसार किये यज्ञ-याग आदि पुन्य कर्मों के फल से मनुष्य इन्हीं ऊपर के आठ देव सर्गों में से किसी एक में पहुंच जाता है। पर यह स्थिति 'नित्य' अथवा स्थायी नहीं है। कुछ समय पश्चात कर्मफल समाप्त हो जाने पर वहाँ से लौट कर फिर मनुष्य लोक में ही जन्म लेना पड़ता है और फिर मुक्ति के लिए प्रयत्न करना पड़ता है। इसलिए सांख्यमतानुसार ज्ञान की अपेक्षा कर्मकाण्ड को निम्न कोटि का साधन माना गया है। उसके द्वारा जीवात्मा को सर्वोच्च लक्ष-मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। भगवद् गीता में भगवान् कृष्ण ने भी उस तथ्य का समर्थन करते हुए कर्मकाण्ड मार्ग को अल्प फल देने वाला बतलाया है—

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्य विपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थं नान्यदस्तोति वादिनः ॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्म कर्म फल प्रदाम ।
क्रिया विशेष बहुलां भौगेश्वर्यगति प्रति ॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृत चेतसाम् ।
व्यवायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥
(गीता २४२, ३४, ४४

अर्थात्—'हे पार्थ ! कर्मकाण्डात्मक वेदों के फल श्रुतियुक्ति) वाक्यों में भूले हुए और यह कहने वाले मूढ़ लोग कि 'इसके अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं है, बढ़ा-चढ़ाकर कहा करते हैं कि अनेक प्रकार के यज्ञ-याग रूपी कर्म से श्रेष्ठ जन्म मिलता है और भोग तथा ऐश्वर्य प्राप्त होता है। ऐसे स्वर्ग के पीछे पड़े हुए वे काम्य-बुद्धि वाले लोग उपर्युक्त बातों की तरफ मन आकर्षित हो जाने से भोग और ऐश्वर्य के विचारों में ही आसक्त रहते है । इसलिए ऐसे मनुष्यों को कभी विवेक युक्त स्थिर (समाधिस्थ) बुद्धि प्राप्त नहीं हो पाती ।' मुण्डकोपनिषद् में भी इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है—

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठ नान्यच्छ्रेयां वेदयन्ते प्रमूढाः ।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्येमं लोकं हीन रतया विधोतयन्ति ॥

अर्थात्—"इष्ट पूर्ति ही श्रेष्ठ है, दूसरा कुछ भी श्रेष्ठ नहीं–ऐसा मानने वाले मूढ़ लोग स्वर्ग में पुण्य का उपभोग कर चुकने पर फिर नीचे को मनुष्य लोक में ही आते हैं ।"

सांख्य और ईश्वरवाद--

सांख्यसिद्धात के विरोधी उस पर निरीश्वर-वादी होने का आक्षेप किया करते हैं और कहते हैं कि महर्षि कपिल ने सांख्य सूत्रों में

ईश्वर का खण्डन किया है। ऐसे लोग कहा करते हैं कि सांख्य में प्रकृति को ही जगत की उत्पत्ति का कारण मान लिया है, ईश्वर का कहीं जिक्र नहीं किया। दूसरा आक्षेप यह किया जाता है कि कपिल ने जगत रचना के लिए २५ तत्वों का वर्णन कर दिया है। जिनमें २४ तत्व प्रकृति के हैं और केवल एक चैतन्य का 'पुरुष' माना है। उस 'पुरुष' के जो लक्षण बतलाये हैं, उनसे वह जगत कर्त्ता सिद्ध नहीं होता, वरन् जन्म-मरण धर्म वाला साधारण जीव प्रतीत होता है। इससे वे यह निष्कर्ष निकालते हैं कि सांख्य-दर्शन प्रकृतिवादी है और वह सृष्टि रचना में ईश्वर की कोई आवश्यकता नहीं समझता। यह एक प्रकार से नास्तिकता ही है।

पर जब हम सांख्य-सूत्रों का गम्भीरता पूर्वक मनन करते हैं और कपिल के वास्तविक मन्तव्यों पर ध्यान देते हैं तो उपरोक्त आक्षेप में कोई सार नहीं जान पड़ता। तीसरे अध्याय में जगत् की उत्पत्ति के विषय में विचार करते हुए यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि यद्यपि वेदान्त सिद्धान्त के अनुसार सांख्य अद्वैतवादी नहीं है, वह ईश्वर को जगत का उपादान कारण स्वीकार नहीं करता, पर वह उसे सृष्टि-रचना का निमित्त कारण अवश्य मानता है, जैसा कि ५५ वें सूत्र में स्पष्ट कहा गया है।

अकार्यत्वेत उद्योग, पारवश्यात्

अर्थात् "ईश्वर का कार्य-परिणाम न होने पर भी परवश होने के कारण जगत से ईश्वर का क्या सम्बन्ध है।" आशय यह है यह चराचरात्मक जगत परवश है, अर्थात् इसकी रचना अपने आप नहीं हो सकती, इसका कोई निमित्त कारण होना आवश्यक है। इसलिए यद्यपि हम नहीं कहते कि जगत् ब्रह्म में से मकड़ी के जाले की तरह निकल आया, पर यह अवश्य स्वीकार करते हैं कि मूल प्रकृति ने इसकी

रचना ईश्वर की प्रेरणा से ही की है। जगत का उपादान कारण न होकर ईश्वर इसका नियामक है—

स हि सर्ववित् सर्वकर्ता ॥५६॥

अर्थात् "वह ईश्वर सर्वान्तरयामी है और सबका कर्त्ता (अधिष्ठाता) है।" विश्व में ऐसा कोई पदार्थ नहीं हो सकता जो ईश्वरीय सत्ता से शून्य हो। ईश्वर छोटे से छोटे अणु से लेकर बड़े से बड़े ग्रह और नक्षत्र में भी व्याप्त है। इस दृष्टि से ईश्वर को जगत का रचयिता अथवा नियन्त्रण करने वाला स्वीकार करना आवश्यक है और इसमें अगले सूत्र इस तथ्य को बिल्कुल स्पष्ट शब्दों में कह दिया गया है।

ईदृशेश्वरसिद्धिः ॥५८॥

अर्थात् "इस प्रकार ईश्वर की सिद्धि इस दर्शन दृढ़ता से की गई है।" तात्पर्य यह है कि यद्यपि सांख्य ईश्वर को जगत का उपादान कारण स्वीकार नहीं करता अर्थात् वह यह नहीं स्वीकार करना चाहता कि हमारे पैरों के नीचे जो पत्थर या कङ्कड पड़ा है, वह 'ब्रह्म' है पर वह ईश्वर को जगत् का नियन्ता व अधिष्ठाता रूप में निश्चित रूप से स्वीकार करता है। इस प्रकार के कथन को देखते हुए सांख्य को अनीश्वरवादी कहना सर्वथा अज्ञान या दुराग्रह का परिणाम ही हो सकता है।

वास्तव में सांख्य-सिद्धान्त न तो अनीश्वरवादी है और न वेदों को अमान्य करता है वरन् वह अति प्राचीन काल से भारतीय समाज में ज्ञान निष्ठा का प्रचार और प्रतिपादन करता आया है। यही कारण है कि गीता में सबसे पहले 'सांख्य योग का ही विवेचन किया गया है और उसके बाद भी जगह-जगह उसके सिद्धान्तों का उल्लेख किया गया है। रह गई प्रकृति द्वारा सृष्टि रचना की बात, तो यह कोई नवीन बात नहीं है। भारतवर्ष के प्रमुख दर्शनों में से केवल वेदान्त ने ही प्रकृति

को स्वतन्त्र नहीं माना है और ब्रह्म से ही चराचर जगत के प्रकट होने की कल्पना की है अन्यथा न्याय, वैशेषिक, सांख्य योग' मीमांसा सभी ने जगत की उत्पत्ति प्रकृति से मानी है और ईश्वर को उसका निमित्त कारण बतलाया है। इस सम्वन्ध में भगवद्‌गीता का मत भी इससे मिलता-जुलता ही है। देखिये—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ।।९-१०।।

अर्थात् "हे अर्जुन ! मुझे अधिष्ठाता के प्रकार से ही यह प्रकृति चराचर सहित सब जगत को रचती है। इसी कारण यह जगत का परिवर्तन (बनना-बिगड़ना) हुआ करता है।"

इसी प्रकार पांचवे अध्याय में सृष्टि रचना और जीवात्मा के कर्म फल भोग का विवेचन करते हुए यही सिद्धांत प्रकट किया गया है—

न कर्तृत्व न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ।।१४।।
नदत्ते कस्यचित्पाप न चैव सुकृत विभुः ।
अज्ञानेनावृते ज्ञान तेन मुह्यन्ति जन्तवः ।।१५।।

अर्थात् "ईश्वर भूत-प्राणियों के न कर्त्तापन को, कर्मों को और न कर्मों के फल के संयोग को वास्तव में रचता है किन्तु परम्परा के सान्निध्य से प्रकृति ही ये सब कार्य करती हैं। उसके तीनों गुण ही गुणों में वर्तते हैं ।।१४।। सर्वव्यापी ईश्वर न किसी के पाप को ग्रहण करता है और न शुभ कर्मों को। किन्तु जीवात्मा का ज्ञान माया के कारण ढका हुआ है, इसलिए वह भ्रम से ईश्वर को ही कर्ता अथवा फल देने वाला मान लेता है ।।१५।। आगे चलकर और भी कहा है—

अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः ।
शरीरोस्थ्योऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ।।

(गीता १३/३१)

अर्थात्—"अनादि और गुणतीत होने से वह अविनाशी परमात्मा वास्तव में न कर्त्ता है और न लिपायमान होता है।"

महर्षि कपिल ने भी सांख्य सिद्धान्त के विवेचन का आधार वेद को ही माना है और कई स्थानों पर यह प्रकट कर दिया है। उनके मतानुसार वेद ईश्वरीय ज्ञान से ही प्रादुर्भूत हुए हैं। इसलिए उनके कथन को प्रमाण रूप मानना अनिवार्य है।

सांख्य दर्शन के सूत्रों में पाये जाने वाले इन सिद्धान्तों और उपदेशों पर मनन करने पर अनीश्वरवादी या वेद विरुद्ध कहना सर्वथा निमूल जान पड़ता है। हम यह जानते हैं कि साम्प्रदायिक विवादों या शास्त्रार्थ में प्रतिपक्षी को हराने के लिए हर तरह की युक्तियाँ और शब्दों को तोड़-मरोड़ कर मनमाना अर्थ निकालने का प्रयत्न किया जाता है पर एक निष्पक्ष और ज्ञानाभिलाषी व्यक्ति के लिए उन युक्तियों और खण्डन मण्डन का न कोई महत्व है न किसी तरह की उपयोगिता। साँख्य का खण्डन करते हुए भी अन्य सिद्धान्त वालों ने उस पर ऐसे ही तरह-तरह के आरोप लगाये हैं, पर हमको उन पर विशेष ध्यान न देकर मूल वस्तु के तथ्यों पर ही ध्यान देना चाहिए और उनका सार ग्रहण करना चाहिए। इस दृष्टि से सांख्य का सिद्धांत आत्मा, परमात्मा सृष्टि रचना, प्रकृति का क्रमशः विकास आदि की अनेक गुत्थियों को सुलझाने वाला सिद्ध होता है। और इसी दृष्टि से हमको उसका अध्ययन और मनन करना चाहिए।

गायत्री तपोभूमि—
मथुरा।

श्रीराम शर्मा आचार्य

ॐ

सांख्य-दर्शन

पहला अध्याय



अथ त्रिविध दुःखान्त्यतनिवृत्तिरत्यन्त पुरुषार्थः ॥१॥

सूत्रार्थ—अर्थ = प्रारम्भ सूचक मंगल शब्द, त्रिविध = तीन प्रकार के, दुःखात्यन्त निवृत्तिः = दुखों का अभाव अत्यन्त पुरुषार्थः = मोक्ष है।

व्याख्या—किसी ग्रन्थ के आदि में अर्थ शब्द का प्रयोग माङ्गलिक समझा जाता है, वैसे यहाँ इसका सही अर्थ 'अब' है। आध्यात्मिक आधिभौतिक और आधिदैविक, इन तीन प्रकार के दुःखों का बिल्कुल न रहना या उत्पन्न न होना ही प्राणी का मुख्य अभिप्राय है। आध्यात्मिक दुःख वह है जो आत्मा को अपने शरीर या मन से प्राप्त होता है, आधिभौतिक दुःख चोर, व्याघ्र, सर्प आदि के काटने, चोट लगने, धन चोरी जाने आदि से प्राप्त होता है, तथा आधिदैविक दुख वह है जिसमें अतिवृष्टि से हानि, बिजली गिरना, आग लगना, बाढ़ आदि से हानि होती है। पुरुषार्थ चार हैं—धर्म, अर्थ, काम मोक्ष-इन चारों में

'मोक्ष' ही सर्वोत्तम पुरुषार्थ है। यहाँ शङ्का होती है कि मोक्ष से ही दुःख की निवृत्ति क्यों ? धर्म, अर्थ या काम से क्यों नहीं ? तो इसका समाधान यह है कि सांसारिक साधनों से यदि हम एक दुःख से छुटकारा पाते हैं तो दूसरे दुःख हमें घेर लेते हैं, जब तक एक दुःख हटता नहीं तब तक दूसरा प्राप्त हो जाता है, इसलिए दुःख का अस्तित्व न रहता तो परम पुरुषार्थ 'मोक्ष' ही सम्भव है ॥१॥

न दृष्टात्तत्सिद्धिर्निवृत्तेऽप्यनुवृत्ति दर्शनात् ॥२॥

सूत्रार्थ—दृष्टात्=दृश्य पदार्थों से, तत्सिद्धः=उनकी सिद्धि न=नहीं है, निवृत्तेऽपि=एक दुःख को मिटाने पर भी, अनुवृत्ति=दुःख की पुनः प्राप्ति, दर्शनात्=देखे जाने से यही सिद्ध होता है।

व्याख्या—प्रत्यक्ष दिखाई पड़ने वाले आदि पदार्थों से दुःख की अत्यन्त निवृत्ति नहीं होती, क्योंकि दुःख के समय में औषधि सेवन करते हुए भी रोग बढ़ता हुआ देखा जाता है अथवा औषधि-सेवन से कुछ समय के लिए रोग दूर हुआ लगता है, परन्तु फिर प्रकट हो जाता है। औषधि के अतिरिक्त अन्य पदार्थ भी सब अनित्य हैं, अपने शरीर के रहते ही मिटते देखे जाते हैं। धन, स्त्री, घर आदि से क्षणिक सुख-शान्ति भले ही प्राप्त हो जाय, किन्तु दुःख की अत्यन्त निवृत्ति नहीं हो सकती, बल्कि, यह सब साधन उल्टे दुःख-रूप और चिन्ता के विषय बन जाते हैं, क्योंकि इनमें से जिनके मिलने से सुख मिलता है, उसके बिछुड़ने से फ़िर दुःख की प्राप्ति हो जाती है। इससे सिद्ध हुआ कि दृश्य पदार्थ दुःखों का अत्यन्त अभाव करने में समर्थ नहीं हैं ॥२॥

प्रात्यहिकक्षुत्प्रतीकारवत् तत्प्रतीकारचेष्टानात् पुरुषार्थत्वम् ॥३॥

सूत्रार्थ—प्रात्यहिकक्षुत्प्रतीकार वत्=प्रतिदिन की भूख के उपाय के समान, तत्प्रतीकार=उन दु:खों के उपाय की, चेष्टनात्=चेष्टा किये जाने से, पुरुषार्थत्वम्=दृष्ट उपाय भी पुरुषार्थ हैं।

व्याख्या—जैसे प्रतिदिन लगने वाली भूख भोजनादि से शान्त हो जाती है, वैसे ही तीनों प्रकार के दु:ख भी दृष्ट उपायों से मिट सकते हैं।' इस शङ्का का समाधान यह है कि अन्न आदि के सेवन से हम भूख को मिटाते हैं, कुछ समय बाद फिर वही उपाय उसे मिटाने के लिए करना होता है, वार-वार भूख लगती है और उसे अन्नादि से दूर करते हैं। किन्तु भूख से एक दम छुटकारा कभी नहीं मिलता। उसी प्रकार, धन आदि दृश्य उपाय हमारी आवश्यकताओं को पूर्ण करते हैं, औषधि आदि भी हम उनके द्वारा खरीद सकते हैं, हमारे जीवन की अधिकांश आवश्यकताएँ उनके द्वारा पूरी हो सकती हैं, परन्तु वे सब पदार्थ हमें दु:खों से परम छुटकारा नहीं दिला सकते। इसकी सिद्धि तो अत्यन्त पुरुषार्थ अर्थात 'मोक्ष' से ही हो सकती है।।३।।

सर्वासम्भवात् सम्भवेऽपि सत्तासंभावाद्धेयः प्रमाण-कुशलैः ॥४॥

सूत्रार्थ—सर्वासम्भवात्=सब प्रकार के सम्भव होने से, सम्भवेऽपि=सम्भव होने पर भी, सत्तासम्भवात=दु:खों का अस्तित्व बने रहने से, प्रमाणकुशलैः=तत्व ज्ञानियों द्वारा (सांसारिक उपायों का), हेयः=त्याग करना चाहिए।

व्याख्या—सांसारिक दृश्य उपाय धन, स्त्री, घर आदि में दु:खों का अस्तित्व बना ही रहता है इसलिए यदि यह उपाय दु:खों को दूर कर सकने योग्य हों, तो भी मुक्ति चाहने वाले ज्ञानीजनों को इनका

त्याग ही कर देना चाहिए। क्योंकि, सांसारिक उपाय अनित्य और सारहीन हैं, इनसे सांसारिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो सकती है, दुखों से परम निवृत्ति नहीं हो सकती। कभी-कभी तो यह उपाय साधारण कष्टों को भी दूर नहीं कर पाते। फिर भी सूत्रकार ने इन उपायों को सांसारिक आश्रमों में रहने वाले व्यक्तियों के लिए त्याज्य नहीं बताये हैं। यहाँ 'प्रमाण कुशलैः' से तत्वज्ञानियों के लिए ही यह साधन त्यागने के योग्य कहे हैं, क्योंकि 'प्रमाण' पद का अर्थ तत्वज्ञान के साधन रूप वेदादि शास्त्र हैं, जो इनका ज्ञान पाकर परमात्मा की प्राप्ति के लिए यत्नशील हैं, उनके लिए यह साधना 'हेय' बताये गये हैं ॥४॥

उत्कर्षादपि मोक्षस्य सर्वोत्कर्षश्रुतेः ॥५॥

सूत्रार्थ—मोक्षस्य=मोक्ष के, उत्कर्षात=उत्कर्ष से, अपि =भी, सर्वोत्कर्ष=(उसका) सर्व श्रेष्ठत्व, श्रुतेः=श्रुति बताती है।

व्याख्या—सांसारिक साधनों और उपलब्धियों—राज्य, धन स्त्री, भवन आदि सभी से मोक्ष श्रेष्ठ मानी गई है और श्रुति ने भी उसका सर्वश्रष्ठ होना कहा है। ऋग्वेद (७-५९-१२) "उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृताम्" अर्थात् 'हमें मृत्यु से छुड़ाओ' किन्तु अमृत से दूर मत करो' यहाँ 'अमृत' पद से जीव की मुक्त अवस्था कही गई है। वेद में कहीं भी सांसारिक साधनों को श्रेष्ठ नहीं कहा है। इससे सिद्ध होता है कि मोक्ष ही दुःख से अत्यन्त निवृत्ति करने में समर्थ है ॥५॥

अविशेषश्चोभयोः ॥६॥

सूत्रार्थ—च=और, उभयो,=दोनों प्रकार के उपायों की समानता म, अविशेष;=कोई विशेषता नहीं है।

व्याख्या - सांसारिक धन आदि उपाय तथा यज्ञ आदि अनुष्ठान, यह दोनों ही दुखों की अत्यन्त निवृत्ति के उपाय नहीं हैं। इसलिए, इनमें से कोई एक भी विशिष्ट नहीं है, दोनों ही समान हैं। अत्यन्त दुःख निवृत्ति में ज्ञान ही सहायक हो सकता है, उसी से मोक्ष की प्राप्ति कही गई है। यजुर्वेद में "विद्यायाऽमृतमश्नुते" से "ज्ञान द्वारा अमृत की प्राप्ति' कही गई है। ६॥

न स्वभावतो बद्धस्य मोक्षसाधनोपद्देशविधिः ॥७॥

सूत्रार्थ—स्वभावतः=स्वभाव से, बद्धस्य=बन्धन से पड़े जीव के लिए, मोक्ष के साधन, उपदेशविधिः=उपदेश का विधान, न=नहीं है।

व्याख्या—यदि जीव स्वभाव वश बन्धन में पड़ा है तो उसके मुक्त होने की विधि का उपदेश हो ही नहीं सकता। क्योंकि बन्धन को जीव का स्वाभाविक धर्म मानने पर, मोक्ष होगा ही नहीं, परन्तु यहाँ दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति मोक्ष से कही गई है, इसलिए जीव का स्वभाव बन्धन कदापि नहीं हो सकता। कर्म-फल-रूप बन्धन प्राप्त होने पर ही मोक्ष के द्वारा उसका नाश होता है ॥७॥

स्वभावस्यानपायित्वादननुष्ठानलक्षणमप्रामाण्यम् ॥८॥

सूत्रार्थ—स्वभावस्य=स्वभाव के, अनपायित्वात्=नाशवान न होने से, अननुष्ठानलक्षणम्=अनुष्ठान की विधि नहीं है, इसलिए यह कहना, आप्रामाण्यम्=प्रामाणिक नहीं है।

व्याख्या—स्वभाव तो स्थायी होता है, उसे हटाया नहीं जा सकता। जैसे अग्नि का स्वभाव उष्णता है, बिना गर्मी के कभी अग्नि रह ही नहीं सकता। जल का स्वभाव ठण्डा होता है, उसे गर्म करने पर भी कुछ समय बाद वह ठन्डा हो जाता है। इससे सिद्ध हुआ कि कोई

पदार्थ अपने स्वभाव से विपरीत गुण वाला नहीं होता, इसलिए यदि वन्धन जीव का स्वभाविक गुण है तो उसके लिए मोक्ष प्राप्ति के लिए अनुष्ठान करने से कोई लाभ नहीं हो सकता, क्योंकि बन्धन का स्वभाव होने के कारण मोक्ष हो ही नहीं सकता। इसलिए स्वाभाविक बन्धन वाले जीव के लिए मोक्ष का विधान करना शास्त्र के विरुद्ध सिद्ध होगा और उसे कभी प्रमाणिक नहीं माना जा सकता ॥८॥

नाशक्योपदेशविधिरुपदिष्टेऽप्यनुपदेशः ॥९॥

सूत्रार्थ--अशक्योपदेश=निष्फल कर्म के उपदेश का, विधि:=विधान न=नहीं हो सकता,क्योंकि, उपदिष्टे=इसका उपदेश किये जाने पर, अपि=भी, अनुपदेशः=उपदेश की यथार्थता नहीं है।

व्याख्या—जिसका होना सम्भव नहीं उसके उपदेश का भी विधान नहीं हो सकता, यदि ऐसा उपदेश होता भी तो निष्फल कर्म के लिए उपदेश होने से, वह उपदेश न होने के समान निरर्थक होता। जब, वस्तु का स्वभाव हटाया ही नहीं जा सकता, तब उसके लिए वैसा उपदेश करना यथार्थ नहीं है।

शुक्लपटवद्बीजवच्चेत् ॥१०॥

सूत्रार्थ—चेत्=यदि, शुक्लपटवत्=सफेद कपड़े के समान और बीजवत=बीज के समान मान लें तो ?

व्याख्या—जैसे सफेद कपड़े को रंगने से वह लाल, पीला, नीला आदि दिखाई देता है, और कपड़े का स्वभाव (सफेद होना) मिट जाता है, अथवा बीज का अंकुर उत्पन्न करने का स्वभाव अग्नि में पकने से दूर हो जाता है, वैसे ही जीव का वन्धन स्वभाविक होने पर

भी विवेक से हटना क्यों न मान लें ? इस भ्रम का उत्तर निम्न सूत्र में है :—

शक्त्युद्‌भवाभ्यां नाशक्योपदेशः ॥११॥

सूत्रार्थ—अशक्योपदेशः=निष्फल कर्म का उपदेश, न= नहीं हो सकता, क्योंकि शक्त्युद्‌भव=शक्ति के उत्पन्न होने या, अनुद्‌भवाभ्याम्=उत्पन्न न होने से (ऐसा उपदेश न होना ही ठीक है)

व्याख्या—सफेद कपड़े और बीज का दृष्टान्त ठीक नहीं है, क्योंकि कपड़े का सफेदपन और बीज का अंकुर उत्पन्न करने वाली शक्ति किसी प्रकार नष्ट नहीं होती, वल्कि, शक्ति का तिरोभाव अप्रकटता ही होता है। प्रायः देखा जाता है कि रंगीन वस्त्र को धोवी के यहाँ धुलाने पर रंग छूटने से वह सफेद हो जाता है अथवा अग्नि पर पका हुआ बीज वैज्ञानिक क्रिया द्वारा फिर अंकुरित हो सकता है। इसी प्रकार निर्मल जीवात्मा कर्म-फल से वन्धन को प्राप्त होता है और कर्म के क्षय हो जाने पर उसका वन्धन नष्ट होकर मोक्ष की प्राप्ति होती है। इससे सिद्ध होता है कि आत्मा का बन्धन स्वाभाविक नहीं है, इसलिए शास्त्र ऐसी निरर्थक बात का उपदेश कभी नहीं कर सकता ॥११॥

न कालयोगतो व्यापितो नित्यस्य सर्वसम्बन्धात् ॥१२॥

सूत्रार्थ—व्यापिनः=व्यापी (और), नित्यस्य=नित्य (आत्मा का, सर्व सम्बन्धात्=सब के साथ सम्बन्ध होने से कालयोगतः=काल के संयोग से (आत्मा का बन्धन) नः= नहीं हो सकता ।

व्याख्या—यदि शङ्का की जाय कि काल की शक्ति अपरिमित है, उसके संयोग से आत्मा का बन्धन होना सम्भव है तो इसका समाधान

यह है कि आत्मा सब समय एक-सा है, कभी कैसा, कभी कैसा, यह बात नहीं है। काल का प्रभाव तो उस पर पड़ता है जो कभी है, कभी नहीं हैं, नित्य और व्यापी आत्मा पर उसका कोई प्रभाव नहीं होता। काल किसी जीवात्मा के बन्धन या मोक्ष का कर्त्ता नहीं हो सकता।

कुछ भाष्यकारों ने 'व्यापी' और 'नित्य' पदों को आत्मा के अर्थ में नहीं, काल विशेषण रूप में माना है। इससे सूत्र का अर्थ 'व्यापी और नित्य काल का सब आत्माओं से सम्बन्ध होना किया गया है। किन्तु, इसे मानने पर सभी आत्माएँ काल के प्रभाव से बन्धन में रहती है और मुक्त आत्मा भी उसके प्रभाव से नहीं बचती। इससे भी आत्मा का काल के संयोग से बन्धन सिद्ध नहीं होता।

न देशयोगतोऽप्यस्मात् ।।१३।।

सूत्रार्थ—देशयोगतः=दिशा के संयोग से, अपि=भी (आत्मा का बन्धन), न=नहीं है, क्योंकि, अस्मात्=उसका सब से सम्बन्ध है।

व्याख्या—आत्मा का सम्बन्ध सब दिशाओं से है, क्योंकि वह 'व्यापी' अर्थात् गतिशील है, इससे उसका सभी दिशाओं मे जाने आने का सामर्थ्य सिद्ध हुआ। अतः वह एक देशीय नहीं माना जा सकता। ऐसा मानने पर मुक्त आत्मा को भी एक देशीय मानना होगा और मुमुक्ष भी बन्धन में पड़ा रहेगा, इसलिए यह मान्यता ठीक नहीं है ।।१३।।

नावस्थातो देहधर्मत्वात् तस्याः ।।१४।।

सूत्रार्थ—तस्य=इसके, देहधर्मस्वात्=देह का धर्म होने से, अवस्थातः=अवस्था से भी यह सिद्ध, न=नहीं होता।

व्याख्या—अवस्था देह का धर्म है, आत्मा का नहीं, इसलिए

बाल्य, युवा, वृद्ध आदि अवस्था से भी आत्मा बन्धन में नहीं पड़ता, क्योंकि देह होने पर ही यह अवस्थाएं हो सकती है, चेतन आत्मा सदा एक रूप ही रहता है। वह कभी बालक, युवा अथवा बूढ़ा नहीं होता। इसलिए अवस्था के कारण जीव का बन्धन में पड़ना सिद्ध नहीं होता ॥१४॥

असंगोऽयं पुरुष इति ॥१५॥

सूत्रार्थ—इति=इस प्रकार, अयं=यह, पुरुषः=आत्मा असङ्ग=संग के बिना है।

व्याख्या—यह जीवात्मा संग-रहित है, अर्थात् इसका बाल्य, युवा, वृद्ध आदि अवस्थाओं से साथ नहीं रहता। जो पदार्थ संयोगी हैं, उनकी ही अवस्थायें बदलती हैं, जैसे दूध पानी के संग वाला है, वह पानी से मिलकर पतला हो जाता है अथवा पानी दूध मे मिलाकर अपना रंग बदल लेता है, परन्तु कमलपत्र जल में पड़ा रहकर भी जल से मिलता नहीं, वैसे ही यह आत्मा अवस्था वाले देह में स्थित होकर भी उसके धर्मों से लिप्त नहीं होता। इसलिए अवस्था भी आत्मा के बन्धन का कारण नहीं हो सकती ॥१५॥

न कर्मणान्यधर्मत्वादतिप्रसक्तेश्च ॥१६॥

सूत्रार्थ—अन्य धर्मत्वा=दूसरे का धर्म होने से, च=और, अतिप्रसक्स्तः=अति संयोग से, कर्मणा=कर्म से भी, न=(आत्मा का बन्धन) सिद्ध नहीं होता।

व्याख्या—धर्म अधर्म रूप कर्म के द्वारा भी आत्मा का बन्धन नहीं होता, क्योंकि कर्म करना शरीर का धर्म है, आत्मा का नहीं है, इसलिए दूसरे का धर्म होने से और कर्म के अति संयोग से भी आत्मा को बन्धन में मानना उचित नहीं है। यदि एक के धर्म से दूसरे को

बन्धन में मान लेंगे तो बन्धन का विधान ही गड़बड़ हो जायगा और मुक्त अवस्था वाला आत्मा भी बन्धन में पड़ेगा। इससे, कर्म-संयोग द्वारा भी आत्मा का बन्धन सिद्ध नहीं होता ॥१६॥

विचित्रभोगानुपपत्तिरन्यधर्मत्वे ॥१७॥

सूत्रार्थ—अन्य धर्मतवे=दूसरे के धर्म से, विचित्रभोगानुपपत्तिः=विचित्र भोगों की असिद्धि होगी।

व्याख्या—आत्मा से भिन्न, शरीर आदि के जो धर्म हैं उनके भोगों को आत्मा द्वारा भोगा जाने में विलक्षणता नही मानी जा सकती। क्योंकि, आत्मा, कर्म करने के लिए देह और अन्तःकरण आदि के साथ सम्बन्ध होने के बाद में प्रवृत्त होता है और वह सम्बन्ध ही बन्धन-रूप है, तब, बाद में होने वाला कर्म अपने से पहिले उपस्थित बन्धन का कारण नहीं हो सकता। इससे सिद्ध होता है कि कर्म आत्मा के बन्धन का कारण नहीं हो सकता ॥१७॥

प्रकृतिनिबन्धनाच्चेन्न तस्या अपि पारतन्त्र्यम् ॥१८॥

सूत्रार्थ—चेत्=यदि कहो कि, प्रकृतिनिबन्धनात्=प्रकृति से आत्मा का बन्धन है तो, तस्या=प्रकृति के, अपि=भी, पारतन्त्रयम्=परतन्त्र होने के कारण, न=ऐसा कहना ठीक नहीं है।

व्याख्या—प्रकृति के कारण आत्मा का बन्धन कहो ता यह भो उचित नहीं है, क्योंकि प्रकृति स्वयं ही पराधीन है, वह अपने प्रेरित करने वाले के बिना कार्य में लग नहीं सकती। और यदि यह माना जाय कि प्रकृति को प्रेरणा करने वाला कोई नहीं है, प्रकृति स्वयं ही कार्य में प्रवृत्त होती है तो उसकी प्रलय में भी होनी चाहिए, जिससे

जगत् का लीन होना सिद्ध नहीं होता और यह वेद विदित है कि जगत प्रलय काल में लीन हो जाता है और चेतन अधिष्ठाता के द्वारा ही प्रकृति का कार्य में प्रवृत्त होना माना जाता है, तो ऐसी पराधीन प्रकृति के बन्धन का कारण नहीं हो सकती ॥१८॥

न नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य तद्योगस्तद्योगादृते ॥१९॥

सूत्रार्थ—नित्यशुद्धबुद्धमुक्त स्वभावस्य=नित्य, शुद्ध, बुद्ध मुक्त स्वभाव वाले आत्मा का, तद्योगः=वह योग (बन्धन) तद्योगादृते=प्रकृति के योग-रहित होने से, न=नहीं है।

व्याख्या—नित्य-जिसका उत्पत्ति-विनाश नहीं है, शुद्ध पवित्र या निर्मल, शुद्ध-चेतन और मुक्त अर्थात गुण और बन्धन में रहित जो आत्मा है, उसका बन्धन में होना प्रकृति के मेल के विना सम्भव नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि प्रकृति के संयोग से आत्मा बन्धन को प्राप्त होता है। अब यहाँ शङ्का होगी कि प्रकृति भी अपरिमित गुण वाली है तो नित्य, शुद्ध, बुद्ध आदि स्वभ.व प्रकृति के ही तो नहीं कहे हैं ? आत्मा नित्य है, प्रकृति को भी नित्य कह सकते हैं, किन्तु शुद्ध अर्थात परिणाम-रहित आत्मा ही है, प्रकृति नहीं, फिर बुद्ध अर्थात 'चेतन' आत्मा ही है, प्रकृति में यह गुण भी नहीं है और मुक्त अर्थात सब बन्धनों से रहित अथवा निर्गुण, प्रकृति इसके विल्कुल विपरीत है। इससे आत्मा बन्धन-रहित है और उसका प्रकृति के सम्पर्क से बन्धन में पड़ना सिद्ध होता है ॥१९॥

नाविद्यातोऽप्यवस्तुना बन्धायोगात् ॥२०॥

सूत्रार्थ—अविद्यातः=अविद्या से, अपि=भी, अवस्तुना

=पदार्थ न होने के कारण, बन्धायोगात्=बन्धन का संयोग न=नहीं बनता।

व्याख्या—अविद्या कोई पदार्थ नहीं है, इसलिए उसके द्वारा भी जीवात्मा को बन्धन नहीं हो सकता। रस्सी है नहीं केवल स्वप्न में दिखाई दी है, तो उससे किसी को किस प्रकार बांधा जा सकता है? इससे सिद्ध हुआ कि अविद्या आत्मा को बन्धन में नहीं डाल सकती ॥२०॥

वस्तुत्वं सिद्धान्य हानिः ॥२१॥

सूत्रार्थ—वस्तुत्वे=वस्तु मानने में: सिद्धान्त हानिः=सिद्धान्त की हानि होगी।

व्याख्या—यदि अविद्या को वस्तु या पदार्थ मान लें और तब उसे जीव के बन्धन का कारण स्वीकार कर लें तो उससे जगत को अविद्या का परिणाम मानने वाले अद्वैतवादियों का सिद्धान्त नष्ट हो जायगा और इससे अविद्या रूप दूसरी वस्तु द्वैतवात का समर्थन करेगी ॥२१॥

विजातीतद्वैतापत्तिश्च ॥२२॥

सूत्रार्थ—च=और, विजातीय=विरुद्ध धर्म वाले, द्वैतापत्तिः=की प्राप्ति होगी।

व्याख्या—अविद्या विज्ञान से विरुद्ध धर्म वाली है यदि उसे वास्तविक तत्व मान लें तो विज्ञान तत्व के साथ विरुद्ध धर्म वाला यह दूसरा तत्व हो गया, इससे भी द्वैतवाद की प्राप्ति हुई और अद्वैतवाद और विज्ञानवादी बौद्ध दोनों के मतों का खण्डन हो गया ॥२२॥

विरुद्धोभयरूपाचेत् ॥२३॥

सूत्रार्थ—चेत्=यदि कहो कि, विरुद्धाउभय-रूपा=

अविद्या को दोनों से विरुद्ध रूप की मानें तो ?

व्याख्या—यदि विद्या को वस्तु अवस्तु दोनों से भी विरुद्ध धर्म वाली मान लें तो भी यह उचित नहीं होगा, इसका कारण नीचे के सूत्र से स्पष्ट किया गया है।

न तादृक्पदार्थाप्रतितेः ॥२४॥

सूत्रार्थ—न=ऐसा नहीं मान सकते, क्योंकि, तादृक्=इस प्रकार का पदार्थ अप्रतीते नहीं होता।

व्याख्या—वस्तु, अवस्तु से भिन्न रूप का कोई पदार्थ संसार में है ही नहीं तो यह मान्यता कैसे ठीक होगी ? अविद्या अज्ञान को कहते हैं जिसे वन्धन का कारण समझा जाता है, परन्तु ज्ञान के प्राप्त होने पर अज्ञान या अविद्या का नाश हो जाता है, फिर वन्धन भी नहीं रहता ॥२४॥

न वयं षट्पदार्थवादिनो वैशेषिकादिवत् ॥२५॥

सूत्रार्थ—वयम्=हम, षट्दार्थवादिनो=छः पदार्थ-(अथवा सोलह पदार्थ) वादी, वैशेषिकादिवत्=कणाद आदि के समान, न=नहीं है।

व्याख्या—वैशेषिक आदि छः पदार्थ मानते हैं, नैयायिक सोलह पदार्थ मानते हैं, इस प्रकार पदार्थों की नियत संख्या मानने वाले हम नहीं हैं, और अविद्या वस्तु अवस्तु या उससे भी कोई विलक्षण पदार्थ सिद्ध न होने से उसे नहीं माना जा सकता ॥२५॥

अनियतत्वेऽपि दायौक्तिकस्य संग्रहोऽन्यथा बालोन्मत्तादिसत्वम् ॥२६॥

सूत्रार्थ—अनियतत्वे=पदार्थों का नियम न मानने पर,

अपि=भी,अयौक्तिक संग्रहः=युक्ति से सिद्ध न होने वाले पदार्थ का मानना, न=ठीक नहीं है, क्योंकि, अन्यथा=ऐसी भ्रान्त मान्यता, बालोन्मत्तादि=बालक और उन्मत्त की मान्यता के, समत्वम्=समान होगी।

व्याख्या—पदार्थों का नियत होना न मानने पर भी, यदि युक्ति और प्रमाण से सिद्ध न होने वाले पदार्थ का अस्तित्व मानलें तो यह ऐसी ही बात होगी जैसी कि बालकों और पागलों की बात भ्रमपूर्ण और निराधार होती है। इससे यही मानना चाहिए कि अविद्या नाम का कोई ऐसा तत्व नहीं है जो आत्मा के बन्धन का कारण हो सकता हो ॥२६॥

नानादिविषयोपरागनिमित्तकोऽप्यस्य ॥२७॥

सूत्रार्थ—अस्य=इस आत्मा को, अनादिविषयोपरागनिमित्तकः=आदि विषय-वासना के कारण, अपि=भी, न=बन्धन नहीं हो सकता।

व्याख्या—यदि कहें कि अनादि (न जाने कब से चली आ रही) विषय-वासना के संयोग से जीवात्मा को बन्धन प्राप्त होता है तो ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, बौद्धमत वाले विषयों को बाहरी मानते हैं और आत्मा को आन्तरिक, किन्तु बाह्य और आन्तरिक का सम्पर्क सम्भव नहीं है, इस प्रकार वियष आत्मा के बन्धन करने वाले नहीं हो सकते ॥२७॥

न बाह्याभ्यन्तरयोरुपरंजयोपरंजकभावोऽपि देशव्यवधावात् स्रुघ्नस्थापाटलिपुत्रस्थयोरिव ॥२८॥

सूत्रार्थ—स्रुघ्नस्थ पाटलपुत्रस्थयोरिव=जैसे स्रुघ्न नगर में रखो हुई मणि और पटना में रखो मणि की, उपरंज्योपरंजक

भाव:=छाया एक दूसरे पर;न=नहीं पड़ सकती,वैसे ही वाह्या भ्यन्तरयो:=वाह्य विषय, अभ्यन्तर (विज्ञान अथवा आत्मा) की, अपि=भी, (परस्पर छाया नहीं पड़ सकती) क्योंकि, देशव्यवधानात्=विषय और विज्ञान में देश की भिन्नता है।

व्याख्या—एक दूसरे की छाया भी पास होने से ही पड़ सकती है। जब स्रुघ्न नगर और पटना नगर जैसी दूरी होगी तब छाया प्रतिच्छाया का पड़ना सम्भव नहीं है। इसी प्रकार विषय वाह्य है और विज्ञान भीतरी, तो यहाँ भी देश-भेद होने से विषय-विज्ञान का आपस में प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकता। इस प्रकार विषय से आत्मा का बन्धन सिद्ध नहीं होता।

द्वयोरेकदेशलब्धोपरागान्न व्यवस्था ॥२९॥

सूत्रार्थ—द्वयो=बद्ध और मुक्त दोनों के एकदेशलब्धोपरागात्=समान उपलब्धियों के सम्बन्ध से,=व्यवस्था,=व्यवस्था, न=नहीं बनती।

व्याख्या—विज्ञान का सम्बन्ध जैसे बद्ध पुरुष से रहता है, वैसे ही मुक्त पुरुष से रहता होगा, क्योंकि, विषय वासना का लगाव भी समान है तो इस प्रकार बद्ध पुरुष के समान मुक्त पुरुष भी बन्धन में आ जायगा और तब बन्धन और मोक्ष रूप जो व्यवस्था-क्रम है, वह गड़बड़ हो जायगा फिर कोई भी जीव मुक्त अवस्था में नहीं रहेगा। इसलिए आत्मा के बन्धन में विषय-वासना को कारण मानना कदापि युक्ति-सगत नहीं है।

अदृष्टवाशाच्चेत् ॥३०॥

सूत्रार्थ—चेत्=यदि कहो कि, अदृष्टवशात्=अदृष्ट के वश से होना सम्भव है, तो यह कहना भी ठीक नहीं है।

व्याख्या—अदृष्ट अर्थात् जन्मान्तर (दूसरे जन्म के) कर्मों से आत्मा का बन्धन होना सम्भव है, तो ऐसा कहना भी युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि अदृष्ट कर्म बन्धन युक्त आत्मा का सम्पर्क ही विषयों के साथ करा सकते हैं, किन्तु, मुक्त आत्मा के साथ अदृष्ट-कर्म विषयों का संयोग नहीं करा सकते, इसका कारण यह है कि मुक्त आत्मा का अदृष्ट से कोई सम्बन्ध नहीं रहता, वह तो दृष्ट, अदृष्ट कर्मों के क्षय होने पर ही मुक्त होता है। इससे सिद्ध होता है कि अदृष्ट के द्वारा आत्मा का बन्धन नहीं हो सकता ॥३०॥

न द्वयोरेककालाऽयोगादुपकार्योपकारकभावः ॥३१॥

सूत्रार्थ—द्वयोः=अदृष्ट का कर्त्ता और दोनों में, एक काला=एक समय का,आयोगात्=योग न होने से,उपकार्योपकारक भाव-=उपाकर्य और उपकारक भवा,न=नहीं हो सकता।

व्याख्या—अदृष्ट कर्म (पहिले जन्म में किये गये कर्म) का कर्त्ता और अदृष्ट कर्म के फल का भोक्ता एक समय में तो हुए नहीं, कर्त्ता पहले जन्म में और भोक्ता दूसरे जन्म में हुए इस प्रकार एक समय में इनके न होने से उपकार्य अर्थात् उपकार के योग्य और उपकारक अर्थात् उपकार करने वाले का भाव नहीं हो सकता। इसका तात्पर्य यह है कि अदृष्ट कर्म का कर्त्ता दूसरे जन्म में भोक्ता का कार्य नहीं कर सकता। इसलिए यह मान्यता भी निरर्थक है ॥३१॥

पुत्रकर्मवदिति चेत् ॥३२॥

सूत्रार्थ—चेत्=यदि कहो कि, इति=यह, पुत्रकर्मवत्=गर्भाधान कर्म के समान सम्भव है तो ऐसा नहीं हो सकता।

व्याख्या—पुत्रोत्पत्ति के निमित्त पिता, गर्भाधान संस्कार करता हैं और उसके पुत्र का उपकार होता है। इसी प्रकार अदृष्ट का

कर्त्ता और भोक्ता एक समय में न हों, तो कर्त्ता भोक्ता का उपहार कर सकता है। सूत्रकार इस शंका को भी भ्रमपूर्ण बताते हुए उसका निराकरण निम्न सूत्र में करते हैं—

नास्ति हि तत्र थिर एकात्मा यो गर्भाधानादिना संस्क्रियते ॥३३॥

सूत्रार्थ—नास्ति=ऐसा नहीं है, क्योंकि, तत्र=वहाँ, यः =जिसका, गर्भाधानादिना=गर्भाधान आदि कार्य के द्वारा, संस्क्रियते=संस्कार होता है, वह, स्थिर=स्थिर और एकात्मा =एक आत्मा, हि=ही है।

व्याख्या—जिसका गर्भाधान संस्कार किया जाता है और जो गर्भाधान संस्कार करता है, वे दोनों एक समय में ही होने से, उपकार्य और उपकारी भाव बनता है, अर्थात् कर्त्ता पिता, भोक्ता पुत्र का उपकार करता है, क्योंकि वेदानुयायी विद्वान् आत्मा को क्षणिक नहीं, स्थिर मानते हैं पुत्र रूप में पिता द्वारा उस आत्मा का संस्कार किया जाता है, इससे भी पिता का पुत्र के प्रति उपकार सिद्ध होता है। परन्तु जहाँ आत्मा को कर्म का आश्रय और विषयोपरागयुक्त तथा क्षणिक माना जाता है, वहाँ आत्मा की क्षणिकता के साथ उसका बन्धन भी क्षणिक ही हुआ ॥३३॥

स्थिरकार्यासिद्धेः क्षणिकत्वम् ॥३४॥

सूत्रार्थ—स्थिरकार्यासिद्धेः=कार्यों के सिद्ध न होने से उनका, क्षणिकत्वम्=क्षणिक होना सिद्ध होता है।

व्याख्या—कोई भी पदार्थ स्थिर नहीं है और जो स्थिर नहीं वह क्षणिक ही है। घट, पट पृथ्वी, जल आदि सब में क्षण-क्षण पर परिवर्तन होता रहता है, यदि ऐसा न हो तो प्रलय काल ही उपस्थित

न हो। बौद्ध मत में सभी दिखाई पड़ने वाले पदार्थ क्षणिक हैं, जैसे दीपक की लौ एक दिखाई देती है, किन्तु, हर क्षण उसमें नई-नई लौ निकलती रहती है। इसी प्रकार सब वस्तुओं को समझना चाहिए।

न प्रत्यभिज्ञाबाधात् ॥३५॥

सूत्रार्थ—प्रत्यभिज्ञाबाधात्=प्रत्यक्ष ज्ञान की बाधा से, न=ऐसा नहीं है।

व्याख्या—पहले समय में अनुभव किये गए पदार्थ का बाद के समय में अनुभव होना 'प्रत्यभिज्ञा' है। यदि प्रत्येक वस्तु प्रत्येक क्षण बदलती है तो पहिले अनुभव में आई वस्तु का एक महीने बाद अनुभव कैसे होगा इससे प्रत्यभिज्ञा का प्रत्यक्ष प्रमाण भी गलत हो जायगा। इसलिए, प्रत्यक्ष अनुभव के कारण प्रत्येक वस्तु का क्षण-क्षण पर बदलना सिद्ध नहीं होता। दीपक की लौ को भी क्षणिक नहीं माना जा सकता, क्योंकि दीपक की लौ के बदलने और बने रहने तक कितने ही क्षण लग जाते हैं, इसलिए, उसका भी हर क्षण पर बदलना नहीं कहा जा सकता ॥३५॥

श्रुतिन्यायविरोधाच्च ॥३६॥

सूत्रार्थ—च=और, श्रुतिन्यायविरोधात्=श्रुति के न्याय का विरोध होने से भी क्षणिक होने की मान्यता ठीक नहीं है।

व्याख्या—हर वस्तु में क्षण-क्षण पर परिवर्तन होने वाली बात का श्रुति विरोध करती है। छान्दोग्य (६-२-१) "सदेव सोम्येदमग्र आसीत" अर्थात् हे सौम्य! इस जगत से पहिले भी सत था", इसी प्रकार "कथमसतः सज्जायेत्" अर्थात् 'असत् से सत् कैसे उत्पन्न हो सकता है?" और क्षणिकवाद में हर वस्तु के प्रतिक्षण बदलने से असत्से सत् का उत्पन्न होना सिद्ध होता है। इस प्रकार, क्षणिकवाद श्रुति-न्याय से विरुद्ध होने के कारण गलत और निरर्थक है॥३६॥

दृष्टान्तासिद्धेश्च ॥३७॥

सूत्रार्थ—च=और, दृष्टान्तअसिद्धेः=दृष्टान्त के सिद्ध न होने से भी, यह धारणा गलत है।

व्याख्या—दीपक की लौ आदि का दृष्टान्त भी भ्रमपूर्ण होने से पदार्थों का क्षणिक होना सिद्ध नहीं होता। इसी प्रकार संसार के सब पदार्थों का प्रत्येक क्षण वदलना भी सिद्ध नहीं है।

युगपज्जायमानयोर्न कार्यकारणभावः ॥३८॥

सूत्रार्थ—युगपत=एक समय में, जायमानयोः=दो के उत्पन्न होने में, कार्यकारणभावः=कार्य और कारण भाव, न=उत्पन्न नहीं होता।

व्याख्या—जो दो वस्तुयें एक समय में ही उत्पन्न होती हैं, उनमें एक उत्पन्न करने वाली और दूसरी उत्पन्न होने वाली नहीं मानी जा सकती। जैसे बैल के दो सींग एक साथ निकलते हैं उनमें से एक उत्पन्न करने वाला और दूसरा उत्पन्न होने वाला नहीं हो सकता ॥३८॥

पूर्वापाये उत्तरायोगात् ॥३९॥

सूत्रार्थ—पूर्वापाये=पहले की वस्तु का विनाश होने पर उत्तर=आगे उत्पन्न होने वाली वस्तु का उससे, अयोगात्=सम्बन्ध होने से भी कार्य-कारण भाव की सिद्ध नहीं होती।

व्याख्या—जो वस्तु पहिले ही नष्ट हो गई उसका आगे की वस्तु से मेल नहीं हो सकता, इस प्रकार नष्ट हुई वस्तु कारण और उत्पन्न होने वाली वस्तु उसका कार्य नहीं हो सकती। यदि कारण अर्थात् उत्पन्न करने वाली वस्तु कार्य रूप वस्तु के उत्पन्न होने तक

ठहर जाती है तो क्षणिकवाद का सिद्धान्त उसे ठहरने नहीं देगा। इस प्रकार पहिले की और आगे की वस्तुओं में कारण और कार्य के भाव की सिद्धि नहीं होती।

तदभावे तदायोगादुभव्यभिचारादपि न ॥४०॥

सूत्रार्थ—तद्भावे=उसके (कारण के) भाव में, तद्= उस (कार्य) का, आयोगात्=योग न होने से, उभय=दोनों में, व्यभिचारात्=व्याभिचार-दोष आ जाने से, अपि=भी, न= यह मान्यता ठीक नहीं है।

व्याख्या—हर वस्तु के क्षण-क्षण पर वदलने या नष्ट होने से जिस क्षण में कारण वस्तु विद्यमान है, उस क्षण में कार्य वस्तु नहीं रहती और जब कार्य वस्तु प्रकट होगी, तव कारण वस्तु नहीं रहेगी। इस प्रकार इन दोंनों का परस्पर सम्वन्ध कभी नहीं रहेगा और इनके 'व्यतिरेक' जो कि कार्य और कारण के नियामक हैं स्थापित नहीं किये जा सकते। कारण के विद्यमान होने पर कार्य का होना 'अन्वय' और कारण के न होने पर कार्य का अभाव होना 'व्यतिरेक' कहा जाता है। क्षणिकवाद में कारण के न रहने पर कार्य का होना और कारण के विद्यमान रहने पर कार्य का न होना माना गया है, जो कि नितान्त भ्रमपूर्ण और किसी प्रकार सिद्ध नहीं है ॥४०॥

पूभार्वंयमाते न नियमः ॥४१॥

सूत्रार्थ—पूर्वभावमात्रे=पूर्वभाव मात्र होना, नियमः= नियम न=नहीं है।

व्याख्या—कार्य से पहिले होने वाले को कारण मानकर कार्य के समय में उसका विद्यमान होने का नियम न माना जाय तो यह

'मिट्टी है' यह 'घट है' इस प्रकार का भेद नहीं हो सकेगा। इस प्रकार कार्य-कारण भाव सिद्ध नहीं है ॥४१॥

न विज्ञानमात्रं बाह्यप्रतीते ॥४२॥

सूत्रार्थ—विज्ञानमात्रं=केवल विज्ञान ही तत्वान=नहीं, क्योंकि, बाह्य प्रतीते=बाहरी पदार्थ भी दिखाई दे रहे हैं।

व्याख्या—विज्ञानवादी केवल विज्ञान को ही एक मात्र तत्व मानते हैं, उसके सिवा और किसी पदार्थ का अस्तित्व नहीं मानते, परन्तु उनका यह सिद्धान्त भी निराधार है, क्योंकि बाहरी पदार्थों का होना प्रत्यक्ष सिद्ध है और वे पदार्थ अनुभव में आते हैं। इससे सिद्ध है कि विज्ञान ही एक मात्र तत्व नहीं है ॥४२॥

तदभावे तदभावाच्छून्यन्तर्हि ॥४३॥

सूत्रार्थ—तदभावे=बाहरी पदार्थों का अभाव मानने पर, तः=तो, यदभावात्=उनका अभाव होने से,शून्यं=शून्य, हि=ही होगा।

व्याख्या—यदि बाह्य पदार्थों का बिल्कुल न होना माना गया तो विज्ञान का भी अस्तित्व न रहेगा, क्योंकि विज्ञान भी किसी न किसी वस्तु के आधार पर ही टिक सकता है। जब कुछ होगा ही नहीं तो विज्ञान क्या बतायेगा? इस प्रकार बाह्य वस्तुओं के न होने से सर्वत्र शून्य ही रह जायगा ॥४३॥

शून्यं तत्वं, भावो विनश्यति वस्तुधर्मत्वाद्विनाशस्य ॥४४॥

सूत्रार्थ-शून्य=शून्याही,तत्व=तत्व है,भावः=विद्यमान

वस्तु विनश्यति=नष्ट हो जाती हैं, क्योंकि, वस्तु धर्मत्वात्=वस्तु का धर्म होने से, विनाशस्य=नाश होना माना गया है।

व्याख्या—जिस वस्तु का विद्यमान होना समझते हैं, वह वस्तु नष्ट हो जाती है, क्योंकि नाश का होना ही वस्तु का धर्म है, इसलिए केवल शून्य ही तत्व है। आज की वस्तु कल नहीं रहती, होने से पहिले भी नहीं थी, इस प्रकार जो वस्तु आज नहीं है, वह कल होगी, पर, आगे वह भी नहीं होगी। हर वस्तु शून्य में से होकर शून्य में ही मिल जाती है, इसलिए शून्य ही तत्व है, इससे भी आत्मा का बन्धन सिद्ध नहीं होता ॥४४॥

अपवादमात्रमबुद्धानाम् ॥४५॥

सूत्रार्थ—अबुद्धानाम्=यह मूर्खों का, अपवादमात्रम्=धर्म अपवाद (बकवाद) ही है।

व्याख्या—प्रत्येक वस्तु नाशवान् है, यह बात कहना मूर्खों की बकवास ही समझनी चाहिए, क्योंकि जिस वस्तु के उत्पन्न होने और नष्ट होने का कोई कारण ही नहीं, वह नष्ट कैसे हो सकती है ? जो वस्तु अवयव रहित है, अर्थात् जिसकी कोई आकृति नहीं, वह वस्तु नष्ट नहीं हो सकती। जो जिस कारण से उत्पन्न होती है, वह वस्तु अपने उसी कारण में लीन हो जाय, उसे नाश होना कहते हैं परन्तु, अवयव रहित वस्तु का कोई कारण न होने से, उनका लय भी नहीं होता।

उभयपक्षसमानक्षेमत्वादयमपि ॥४६॥

सूत्रार्थ—उभय पक्ष=दोनों पक्षों में, समानक्षेमत्वात्=समान विचार होने से, अयम्=यह, अपि=भी (त्यागने योग्य है।)

व्याख्या—बौद्धों में दो मत हैं—एक क्षणिकवादी, जो प्रत्येक वस्तु को क्षणिक मानते हैं और दूसरा है विज्ञानवादी, जो योगाचार

कहा जाता है। पहिले मत में बीते हुए समय का अनुभव अगले समय में न होना और दूसरे मत में बाहरी वस्तुओं का न होना माना जाता है। ऐसा ही दोष शून्यवादियों के मत में भी है। इस प्रकार यह सभी मत त्यागने योग्य कहे गए हैं ॥४६॥

अपुरुषार्थत्वमुभयथा ॥४७॥

सूत्रार्थ—उभयथा=दोनों प्रकार से, अपुरुषार्थत्वम्=पुरुषार्थ नहीं होता।

व्याख्या—शून्य तत्व को दुःख-निवृत्ति-रूप अथवा दुःख-दूर होने का कारण, दोनों ही प्रकार से पुरुषार्थ नहीं माना जा सकता। क्योंकि शून्यवादी 'पुरुष' नाम के किसी तत्व को नहीं मानते तो पुरुषार्थ ही कहाँ से होगा? इस प्रकार शून्यवाद की उपयोगिता सिद्ध नहीं होती ॥४७॥

न गतिविशेषात् ॥४८॥

सूत्रार्थ—गति विशेषात्=गति की विशेषता से भी, न=यह सिद्धान्त मान्य नहीं है।

व्याख्या—आत्मा की गति अर्थात् एक शरीर से दूसरे में जाना जीव के लिए बन्धन रूप नहीं माना जा सकता क्योंकि गति आत्मा का स्वाभाविक धर्म है और जो स्वाभाविक धर्म है, वह उसके बन्धन का कारण नहीं हो सकता ॥४८॥

निष्क्रियस्य तदसम्भवात् ॥४९॥

सूत्रार्थ—निष्क्रियस्य=निष्क्रय को, असंभवात्=असंभव होने से, तद्=गति सम्भव नहीं है।

व्याख्या—आत्मा निष्क्रिय है, उसमें गति का होना सम्भव

नहीं है, यह कहना निर्मूल है क्योंकि आत्मा की गति तो आवागमन से ही सिद्ध है । "अंगुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलात्" अर्थात् 'यमराज ने अंगूठे के बराबर आत्मा को बलपूर्वक खींचा इस श्रुति वचन से आत्मा का गतिशील होना सिद्ध होता है ॥४६॥

मूर्त्तत्वाद्घादिवत् समानधर्मापत्तावपसिद्धान्तः ॥५०॥

सूत्रार्थ—मूर्त्तत्वात्=मूर्त्त होने के कारण, घटादिवत्=घड़े आदि के समान, सपायधर्मापत्तौ=समान धर्म की प्राप्ति से, अपसिद्धान्त=सिद्धान्त की विरुद्धता होगी ।

व्याख्या—यदि आत्मा को घड़े आदि के समान मध्य परिणाम वाला मानें तो अवयव वाला होने से, घड़े आदि के समान ही उनकी विरुद्धता होगी । "नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोयं सनातनः" से आत्मा नित्य, सर्वत्र जाने वाला, स्वरूप में अचल और सनातन' कहा गया है, इस प्रकार आत्मा नाशवान् नहीं है और गति विशेष से भी उसका बन्धन सिद्ध नहीं होता ॥५०॥

गतिश्रुतिरप्युपाधियोगादाकाशवत् ॥५१॥

सूत्रार्थ—उपाधियोगात्=उपाधि के योग से, आकाशवत्=आकाश के समान, अपि=हो, गति श्रुति=गति का श्रुति प्रतिपादन करती हैं ।

व्याख्या—यहाँ आकाश का उदाहरण दिया गया है । जैसे घड़ा कुएं में डाला जाता है और पानी भरने पर निकाल लिया जाता है, जहाँ पानी भरा है, वह आकाश कहा गया है और घट रूप उपाधि के चलने से आकाश का चलना कहा गया है इसी प्रकार शरीर रूप उपाधि से आत्मा का चलना माना गया है । इसमें सूक्ष्म शरीर का

चलना ही समझना चाहिए। श्रुति भी इसी अभिप्राय का प्रतिपादन करती है ॥५१॥

न कर्मणाऽप्यतद्धर्मत्वात् ॥५२॥

सूत्रार्थ—कर्मणा=कर्म से, अपि=भी, न=आत्मा का बन्धन सिद्ध नहीं होता, क्योंकि अतद्धर्मत्वात् यह आत्मा का धर्म नहीं है।

व्याख्या—अच्छे या बुरे कर्म करने पर भी आत्मा बन्धन को प्राप्त नहीं होता, क्योंकि बन्धन आत्मा का धर्म नहीं, शरीर का धर्म है। एक के धर्म से दूसरे को बन्धन होना युक्ति संगत नहीं माना जा सकता है ॥५२॥

अति प्रसक्तिरन्यधर्मत्वे ॥५३॥

सूत्रार्थ—अन्य धर्मत्वे=दूसरे के धर्म से दूसरे का बन्धन मानना, अति प्रसक्तिः=अति प्रसङ्ग का दोष होगा।

व्याख्या—एक धर्म से दूसरे का बन्धन में आना मानने से कथन में अत्युक्ति-दोष की उत्पत्ति करेगा अर्थात् व्यर्थ बात को बढ़ाकर कहने का दोष लगेगा। यदि इस सिद्धान्त को यथार्थ में मान लें तो किसी के धर्म से कोई भी बन्धन में आ सकता है, फिर मुक्तात्मा भी बन्धन से नहीं बच सकता। इसलिए यह सिद्धान्त भी मिथ्या सिद्ध हुआ ॥५३॥

निर्गुणादि श्रुतिविरोधश्चेति ॥५४॥

सूत्रार्थ—निर्गुणादि=श्रुत ने आत्मा को निर्गुण आदि कहा है, उस श्रुतिविरोधश्चेति=श्रुति से विरोध होगा।

व्याख्या—श्रुतियों ने आत्मा को निर्गुण और असङ्ग कहा है "साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च" तथा "असङ्गों ह्यय पुरुषः" कहकर

श्वेताश्वतर अथवा वृहदारण्यक श्रुतियों ने 'चेतन आत्मा को' 'निर्गुण' और 'असङ्ग' स्पष्ट रूप से कहा है। इससे सिद्ध है कि आत्मा का बन्धन कहना युक्तिसङ्गत नहीं है ॥५४॥

तद्योगोऽप्यविवेकान्न समानत्वम् ॥५५॥

सूत्रार्थ—तद्योगः=प्रकृति का पुरुष से संयोग, अपि=भी, अविवेकात्=अविवेक से होने के कारण, समानत्वम्=समानता, न=नहीं है।

व्याख्या—प्रकृति और आत्मा का पारस्परिक संयोग अज्ञान के कारण होता है, इसलिए उसमें समानता नहीं मानी जा सकती। जब उस आत्मा को ज्ञान-साधन आदि के द्वारा चेतन, अचेतन का भेद मालूम हो जाता है, तव उसका अविवेक दूर हो जाता है और वह प्रकृति के सम्पर्क से अलग हो जाता है तथा अविवेक से वन्धन में पड़ गया हो तो वन्धन से छूट जाता है। इससे सिद्ध हुआ कि अविवेक से हुआ आत्मा और प्रकृति का संयोग आत्मा के बन्धन का कारण नहीं हो सकता ॥५५॥

नियतकारणात्तदुच्छित्तिर्ध्वान्तवत् ॥५६॥

सूत्रार्थ—नियतकारणात्=नियत कारण से, ध्वान्तवत्=अन्धकार के समान, तदुच्छित्तिः=उसका नाश होता है।

व्याख्या—जैसे, अन्धकार का नाश उसके नियत कारण प्रकाश के द्वारा होता है, वैसे ही अविवेक का नाश विवेक के द्वारा होता है। अन्धेरे को दूर करने का एक मात्र उपाय प्रकाश है और अविवेक को मिटाने का एक मात्र उपाय विवेक है, इससे भिन्न कोई उपाय नहीं है।

प्रधानाविवेकादन्याविवेकस्य तद्धाने हानम् ॥५७॥

सूत्रार्थ—प्रधानाविवेकात्=प्रधान के अविवेक से, अन्या-

विवेकस्य=अन्य के अविवेक की प्राप्ति और, तद्धाने=उसकी हानि से, हानम्=नाश हो जाता है।

व्याख्या—प्रधान अर्थात् प्रकृति के अविवेक से ही आत्मा को अन्य अर्थात् देह, इन्द्रिय, पुत्र आदि का अविवेक प्राप्त होता है और जैसे ही उस अविवेक का नाश हुआ, वैसे ही देह, इन्द्रिय, पुत्र आदि के दुःख से दुःखी होने वाला विकास भी आत्मा से दूर हो जाता है, अर्थात् तब वह ज्ञान को प्रात हुआ आत्मा सर्व त्यागी और बन्धन रहित होकर मोक्ष को प्राप्त करता है। इससे सिद्ध हुआ कि देह आदि का अभिमान रूप अविवेक रहने पर मनुष्य को मोक्ष की कल्पना नहीं हो सकती। ५७॥

वाङ् मात्रं नतु तत्त्वं चित्तस्थितेः ॥५८॥

सूत्रार्थ – चित्तस्थितेः=वृत्ति के चित्त में स्थित रहने पर, वाङ्मात्र=ज्ञान कथन मात्र है न तु तत्वं=यथार्थ तत्व नहीं है।

व्याख्या—विवेक और अविवेक चित्त के धर्म है। उसमें जब तक अविवेक विद्यमान है, तब तक ज्ञान का उदय कहा जाना केवल कहने के लिए ही है. उसे यथार्थ ज्ञान नहीं कहा जा सकता। जैसे लाल पुष्प को स्फटिक मणि के पास रखने से मणि में कुछ ललाई आ जाती है, परन्तु वह ललाई वास्तविक नहीं होती, वैसे ही अविवेक के रहते हुए विवेक यथार्थ रूप से नहीं रहता ॥५८॥

युक्तितोऽपिन बाध्यते दिङ्मूढवदरोक्षादृते ॥५९॥

सूत्रार्थ—युक्तितः=युक्तिपूर्वक, अपि=भी, दिङ्मूढवत् =दिशा भूले हुए के समान, अपरोक्षावृते=साक्षात ज्ञान के बिना, न बाध्यते=बाधा नहीं होती।

व्याख्या—जैसे दिशा के भूल जाने पर उनके सुनने, जानने मे ठीक दिशा का ज्ञान हो जाता है, किन्तु उसे देखे बिना भ्रम दूर नहीं होता, वैसे ही केवल वाणी आदि के द्वारा कहने, सुनने से ही बन्धन नहीं छूटता और कितना भी प्रयत्न करे, साक्षात् ज्ञान प्राप्त हुए बिना अविवेक नहीं मिटता। इससे सिद्ध हुआ कि साक्षात् ज्ञान पाने पर ही मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है।

अचाक्षुषाणामनुमानेन बोधो धूमादिभिरिव वह्नेः ॥६०॥

सूत्रार्थ—अचाक्षुषाणाम्=दिखाई न पड़ने वाले पदार्थों का अनुमानेन से बोधो=बोध होता है, धूमादिभिः= धुंआ आदि से, वह्ने=अग्नि का बोध होने के, इव=सामान।

व्याख्या—जैसे धुंए को देखकर अग्नि होने का ज्ञान हो जाता है, वैसे ही दिखाई न पड़ने वाले पदार्थों का ज्ञान अनुमान से किया जाता है। वायु, उष्णता, शीत आदि आँख से नहीं दिखाई देते किन्तु अनुमान से जान लिया जाता है कि वायु चल रहा है, आज गर्मी है, आज सर्दी है। अब इन्द्रिय से दिखाई देने वाले और न दिखाई देने वाले तत्वों का वर्णन करते हैं।

सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान् महतोऽहंकारोऽहंकारात् पंच तन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि पुरुष इति पंचविंशतिर्गणः ॥६१॥

सूत्रार्थ—सत्वरजस्तमसां=सत्व, रज, तम, इन तीनों गुणों की, सम्यापस्था=समान अवस्था, प्रकृतिः=प्रकृति है, प्रकृते=प्रकृति से, महान्=महत्तत्व, महतः अहंकारः,=महत्तत्व से अहंकार, अहंकारत्=अहंकार से, पंचतन्मात्राणि

उभयमिन्द्रियम्=पंच तन्मात्राएें और दोनों तरह की इन्द्रियाँ तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि=तन्मात्राओं से स्थूल भूत-समुदाय और, पुरुषः=पुरुष, इति पंचविंशतः गणः=यह पच्चीस का समुदाय है।

व्याख्या—तीन मूल तत्व, सत्व, रज, तम की समान अवस्था प्रकृति है। समान अवस्था वह है, जब यह सत्व कार्य रूप में परिवर्तित नहीं होते, बल्कि अपने मूल कारण रूप में स्थित रहते हैं। इससे स्पष्ट हुआ कि प्रकृति कोई अलग तत्व नहीं है। उन तीनों तत्वों में चेतन की प्रेरणा से उथल-पुथल होती है, तब वे अपने कार्य में लगते हैं, तब वह अपनी समान अवस्था को छोड़कर विषम अवस्था की ओर चलते हैं। उसका पहला फल 'महत्तत्व' होता है, इसी को बुद्धि कहा जाता है। फिर महत् से अहंकार से पंचतन्मात्रायें और भीतरी व बाहरी इन्द्रियाँ प्रकट होती हैं। अहंकार भी दो तरह का है, तामस से तन्मात्रायें और सात्विक से दोनों प्रकार की इन्द्रियाँ होती हैं। इनमें भीतरी इन्द्रिय 'मन' है और बाहरी इन्द्रियाँ दस हैं। पाँच कर्मेन्द्रिय-वाणी हाथ, पाँव, वायु व उपाय तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ-कान, त्वचा, नेत्र, जीभ और नासिका, यह सभी इन्द्रियाँ विकार मात्र हैं। तन्मात्राओं से पृथिवी आदि स्थूल भूतों की उत्पत्ति होती है यह तेइसों तत्व चौबीसवीं प्रकृति के विकार हैं और पच्चीसवां चेतन पुरुष है जिसके परमात्मा और जीवात्मा से दो भेद कहे हैं। इसमें भी परमात्मा एक और जीवात्मा असंख्य माने गये हैं।।६१।।

स्थूलात्पंचतन्मात्रस्य ।।६२।।

सूत्रार्थ—स्थूलात्=स्थूल से, पंचतन्मात्रस्य=पंचतन्मात्राओं का अनुमान होता है।

व्याख्या—पृथिवी, जल, वायु, तेज आकाश इन पाँचों स्थूल तत्वों के अस्तित्व से उनको उत्पन्न करने वाली पंचतन्मात्राओं का अनुमान लगता है। सांख्य शास्त्र में इनके नाम गन्धतन्मात्रा, रसतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा और शब्दतन्मात्रा कहे हैं। यह किसी दूसरे तत्व से मिलती नहीं और इनमें किसी प्रकार की बाहरी विशेषता न होने से इन्हें 'अविशेष' भी कहा गया है। स्थूल भूतों के उत्पादन न करने वाली होने से हमें इनके सूक्ष्म होने का भी अनुमान होता है ॥६२॥

बाह्याभ्यन्तराभ्यां तैश्चाहङ्कारस्य ॥६३॥

सूत्रार्थ—बाह्याभ्यन्तराभ्याम्=बाहरी और भीतरी इन्द्रियों से, च=और, तैः=उन (तन्मात्राओं) से अहङ्कारस्य=अहङ्कार का अनुमान होता है।

व्याख्या—दोनों प्रकार की इन्द्रियों से और तन्मात्राओं से, उनके उत्पन्न करने वाले अहंकार का ज्ञान होता है, क्योंकि इन ग्यारहों इन्द्रियों और पाँचों तन्मात्राओं के अस्तित्व से, इनके उत्पन्न करने वाले कारणरूप अहङ्कार का ज्ञान सहज ही हो जाता है। यदि यह कार्य अहङ्कार के न होते तो इनमें उसके गुण भी दिखाई नहीं देते ॥६३॥

तेनान्तःकरणस्य ॥६४॥

सूत्रार्थ—तेन=उस, अहंकार से, अन्तःकरणस्य=अन्तःकरण का अनुमान होता है।

व्याख्या—अहंकार रूप कार्य से, उसके उत्पन्न करने वाले अन्तःकरण का अनुमान होता है। यहाँ 'अन्तःकरण' शब्द 'बुद्धि' के लिये कहा गया है, इसे 'महत्' भी कहते हैं। सांख्य मत में तेरह कारण कहे गए हैं, जिनमें पाँच ज्ञानेन्द्रिय और पाँच कर्मेन्द्रिय और तीन अन्तःकरण—मन, अहङ्कार और बुद्धि, इस प्रकार तेरह हुए। चेतन

आत्मा के साथ इसका सीधा सम्पर्क होने से 'बुद्धि' को तीनों अन्तःकरणों में प्रमुख माना गया है ॥६४॥

ततः प्रकृतेः ॥६५॥

सूत्रार्थ—ततः=उस अन्तःकरण से, प्रकृतेः=प्रकृति का अनुमान होता है।

व्याख्या—उस अन्तःकरण अर्थात् बुद्धि से उसके कारण रूप प्रकृति का अनुमान होता है। सभी कार्य अपने-अपने उत्पन्न करने वाले का बोध कराने वाले होते हैं। इसलिये बुद्धि भी अपने मूलकारण प्रकृति का बोध कराती है किन्तु प्रकृति का कोई उत्पन्न करने वाला नहीं है, इसलिये प्रकृति किसी उत्पन्न करने वाले कारण का बोध नहीं करा सकती ॥६५॥

संहतपरार्थत्वात् पुरुषस्य ॥६६॥

सूत्रार्थ—संहतपरार्थत्वात्=संघात का दूसरे के लिये होने, पुरुषस्य=पुरुष का बोध होता है।

व्याख्या—प्रकृति और उसके कार्यों की मिलावट को 'संघात' कहा जाता है। संघात दूसरों के लिये होता है। 'संघात' परिणामी तत्व कहा गया है, परिणामी का अर्थ है परिणाम वाला, जिसका कोई परिणाम (कार्य अथवा फल) हो। कोई भी परिणामी तत्व अपने लिए कोई कार्य नहीं करता और सभी परिणामी तत्व अचेतन होते हैं। अचेतन और अपने लिए प्रयोजन की सिद्धि न करने वाला तत्व अपने से विपरीत लक्षण वाले किसी ऐसे तत्व का बोध कराता है, जिसके कार्य को सिद्ध करने के लिये उस परिणामी तत्व की सत्ता है। उसे जिस विपरीत लक्षण वाले तत्व का कार्य सिद्ध करना है वह तत्व न तो परिणामी होगा और न अचेतन होगा, तभी तो लक्षण में विपरीतता

होगी। इस प्रकार दूसरे के प्रयोजन को सिद्ध करने वाले 'संघात' से उस अपरिणामी और चेतन पुरुष का अनुमान हो जाता है ।।६६।।

मूले मूलाभावामूलं मूलम् ।।६७।।

सूत्रार्थ—मूले=मूल में, मूलाभावात्=मूल के न होने से, अमूलम्=मूल-रहित, मूलम्=मूल है।

व्याख्या—मूल प्रकृति का कोई मूल उपादान अर्थात् उत्पन्न करने वाला नहीं है। उपादान कारण न होने से वह मूल-रहित कही गई है और जिसका कोई दूसरा मूल नहीं, वह स्वयं मूल है। पहिले बता चुके हैं कि सम्पुर्ण अचेचन जगत् के तीन मूल तत्व हैं, सत्व, रज, और तम। इन तीनों का समान अवस्था में ही होना ही प्रकृति है ।।६७।।

पारम्पर्येऽप्येकत्र परिनिष्ठेति संज्ञामात्रम् ।।६८।।

सूत्रार्थ—पारम्पर्ये=परम्परा होने से, अपि=भी, एकत्र एक स्थान को, परिनिष्ठा=सीमा मानना ही होगा, क्योंकि इति=यह, संज्ञामात्र =नाम मात्र का ही भेद हैं।

व्याख्या—यदि प्रकृति का भी कोई उत्पन्न करने वाला कारण माना जाय और उससे आगे, उस कारण का भी कोई कारण माना जाय तो, यह परम्परा कभी समाप्त ही नहीं होगी। यदि परम्परा मान कर कारण मानते भी चले जाँय तो कहीं न कहीं तो ठहरना ही होगा, तो प्रकृति से ऊपर परमात्मा पर ही परम्परा को क्यों न समाप्त किया जाय? परन्तु परमात्मा पर परम्परा के समाप्त होने में कोई प्रमाण नहीं मिलता और साख्य-शास्त्र में प्रकृति का जो स्थान है लगभग वैसा ही स्थान अन्य मत में परमात्मा को दिया है। उसमें थोड़ा ही भेद है जैसे प्रकृति का कारण परमात्मा को मानना अथवा परमात्मा का परिणाम प्रकृति का माना जाना। ऐसा मानने से पर-

को परिणामी और अचेत मानना होगा, तब वह प्रकृति जैसे लक्षण वाला ही होगा। इस प्रकार प्रकृति में और परमात्मा में नाम-मात्र का ही भेद रह जाता है, परन्तु सांख्य मत्त में परमात्मा को अपरिणामी और चेतन ही माना गया है और कारण की परम्परा प्रकृति पर ही समाप्त कर दी गई है।

समानः प्रकृतेर्द्वयोः ॥६९॥

सूत्रार्थ-द्वयोः=दोनों में, प्रकृतेः=प्रकृति की, समानः= समानता है।

व्याख्या—उपरोक्त प्रकार से प्रकृति और परमात्मा में समानता अथवा नाम-मात्र का भेद वादी-प्रतिवादी दोनों के आधार पर माना गया है। चेतन और अचेतन के उत्पन्न करने वाले कारणों पर विचार करते समय, प्रकृति को ही जगत के उत्पन्न करने वाला कारण मानना होगा, क्योंकि कोई भी चेतन तत्व परिणामी नहीं हो सकता। इसलिए अचेतन प्रकृति ही मूल कारण है ॥६९॥

अधिकारित्रैविध्यान्न नियमः ॥७०॥

सूत्रार्थ-अधिकारित्रैविध्यात्=अधिकारी उत्तम, मध्यम, निकृष्ट तीन प्रकार के होने से, न नियमः=नियम नहीं है।

व्याख्या—ज्ञान पाने के अधिकारियों के, उनकी क्षमता (सामर्थ्य) के अनुसार उत्तम, मध्यम और निकृष्ट, यह तीन भेद किये गये हैं। क्योंकि, समान रूप से, समान ग्रन्थादि का अध्ययन करने पर भी कोई ज्ञान प्राप्त कर पाता है। किसी को देर से, किसी को जल्दी और किसी को प्रयत्न करते रहने पर भी ज्ञान नहीं होता। इससे सिद्ध

होता है कि प्रकृति और पुरुष का भेद स्पष्ट कह देने पर भी उसका साक्षात् समान रूप से होना सम्भव नहीं है ॥७०॥

महदख्यमाद्यं कार्यं तन्मनः ॥७१॥

सूत्रार्थ - महदाख्यम्='महत' नाम का जो, आद्यं कार्यं =आदि कार्य है, तन्मनः=वह 'मन' है।

व्याख्या—प्रकृति का जो पहिला कार्य है वह 'महत्' नामक तत्व है, वह मनन रूप होने के कारण 'मन' अथवा बुद्धि' भी कहा गया है। इसका कार्य मनन करना अथवा निश्चय करना है ॥७१॥

चरमोऽहङ्कारः ॥७२॥

सूत्रार्थ—चरमः=फिर, अहंकारः=अहंकार है।

व्याख्या—'महत्' के बाद का 'अहङ्कार' है। 'महत्' कार्य बुद्धि से सम्वन्धित है तो यह 'अहंकार' अभिमान वृत्ति वाला है। इसे यों समझना चाहिए कि बुद्धि से ही अभिमान उत्पन्न होता ॥७२॥

तत्कार्यत्वमुत्तरेषाम् ॥७३॥

सूत्रार्थ—उत्तरेषाम्=बाद में कहे गये तत्व, तत्कार्यत्वम् =उस अहंकार के कार्य हैं।

व्याख्या—अहकार के बाद जिन कार्यों को इकसठवें सूत्र में बता चुके हैं वे कार्य अर्थात् पंच तन्मात्रायें और दोनों प्रकार की इन्द्रियाँ यह सब अहंकार से उत्पन्न होते हैं ॥७३॥

आद्यहेतुता तद्द्वारा पारम्पर्येऽप्यणुवत् ॥७४॥

सूत्रार्थ - आद्यहेतुता=प्रकृति का आदि कारणत्व, तद्-द्वारा=उसके कार्य के द्वारा, पारम्पर्ये=पारम्परिक होने पर, अपि=भी, अणुवत्=अणु के समान सिद्ध है।

व्याख्या—उत्पन्न कार्य का अपने उत्पन्न करने वाले कारण

में लीन होने की परम्परा मानने पर भी, प्रकृति का मूल कारण होना सिद्ध होता है। जैसे स्थूल तत्व लीन होते समय अपने उत्पन्न करने वाले अणु रूप सूक्ष्म तत्वों में मिल जाते हैं, इसी प्रकार तन्मात्राऐं और इन्द्रियाँ अपने उत्पन्न करने वाले अहङ्कार में और अहङ्कार महत्तत्व में तथा महत्तत्व मूल-प्रकृति में लीन हो जाते हैं। लीन होने की इस परम्परा के द्वारा 'प्रकृति' का आदि कारण होना सिद्ध होता है ॥७४॥

पूर्वभावित्वे द्वयोरेकतरस्य हानेऽन्यतरयोगः ॥७५॥

सूत्रार्थ – द्वयोः = दोनों के, पूर्वभावित्वे = अनादि होने से, (उनमें से) एकतरस्य = एक के न होने पर, अन्यतर = दूसरे का, योगः = योग है।

व्याख्या—चेतन और अचेतन अथवा पुरुष और प्रकृति का अस्तित्व अनादि काल से चला आता है। फिर भी इन दोनों में से एक चेतन तत्व परिणामी न होने से जगत् का उपादान कारण (उत्पन्न करने वाला) नहीं हो सकता। इस प्रकार चेतन तत्व के उत्पादन कार्य से पृथक्, रहने पर, दूसरा जो अचेतन (प्रकृति) है, उसी का योग जगत् के उत्पन्न करने में माना जायगा। इससे सिद्ध हाता है कि सम्पूर्ण जगत् अपने उपादान (उत्पन्न करने वाले अचेतन प्रकृति में ही लीन होता है, चेतन परमात्मा में नहीं होता ॥७५॥

परिच्छिन्नं न सर्वोपादानम् ॥७६॥

सूत्रार्थ–परिच्छिन्नम् = सीमित, एकदेशीय, सर्वोपादानम् = सब का उत्पन्न करने वाला, न = नहीं है।

व्याख्या—सीमित अथवा एकदेशीय सघात के सम्बन्ध में पहिले बता चुके हैं। यह अवयव वाला और नाशवान् तत्व-समूह जगत् के उत्पन्न करने वाला नहीं हो सकता। क्योंकि वह तो स्वयं दूसरे

कारण द्वारा इस अवस्था को प्राप्त हुआ है। यह उत्पन्न होने और नष्ट होने वाला संघात, सीमित तथा एकदेशीय होने से सब जगत का मूल उत्पन्न करने वाला नहीं हो सकता ॥७६॥

तदुत्पत्तिश्रुतेश्च ॥७७॥

सूत्रार्थ—तदुत्पत्ति=उनकी उत्पत्ति को प्रतिपादित करने वाली, श्रुतेः=श्रुति होने से, च=भी यह सिद्ध है।

व्याख्या—सघात अर्थात परिच्छिन्नों की उत्पत्ति प्रकृति से होती है, यह बात श्रुति-प्रमाण से भी सिद्ध है। ऋग्वेद (१०-६-७२-३) "देवानां युगे प्रथमेऽसतः सदजायत" अर्थात् 'देवताओं की उत्पत्ति से पहले असत् से सत् की उत्पत्ति हुई' वृहदारण्यक (१-४-७) 'तद्धेदन्त-ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यामेवव्याक्रियते" इत्यादि से प्रथम अव्याकृत प्रकृति एक पदार्थ था, उसमें दूसरे पदार्थ होते गये और उन पदार्थों के नाम रूप भी होते गये ॥७७॥

नावस्तुनो वस्तुसिद्धिः ॥७८॥

सूत्रार्थ—अवस्तुनः=अवस्तु से, वस्तुसिद्धिः=वस्तु का होना, न=सिद्धि नहीं है।

व्याख्या—जब वस्तु है ही नहीं, तो वस्तु कहाँ से बनेगी? मिट्टी होगी तो घड़ा बनेगा, यदि मिट्टी ही न होगी तो घड़ा ही कहाँ से बनेगा? इस दिखाई पड़ने वाले जगत् को देखकर हम समझते हैं कि यह स्वयं ही उत्पन्न हो गया, किन्तु ऐसा समझना कोरा भ्रम ही है "असतः सदजायत" अर्थात् दिखाई न पड़ने वाले से दिखाई पड़ने वाला उत्पन्न हुआ।' एक शंका होती है कि यह जगत् स्वप्न के समान मिथ्या ही क्यों न मान लिया जाय? तो उसका समाधान यह है कि स्वप्न का भी कुछ न कुछ आधार होता ही है, भ्रम होते हुए भी उसे

निराधार नहीं कहा जा सकता, क्योंकि मनुष्य जो कुछ देखता, सुनता या अनुभव करता है, उसी के आधार पर सोते में स्वप्न देखता है। यदि ऐसा कहें कि रस्सी में सर्प के भ्रम के समान जगत् भ्रम ही है, तो यह बात भी निरर्थक है। रस्सी रूप वस्तु को अन्धेरे में सर्प समझ लेने का प्रथम आधार तो रस्सी रूप वस्तु ही है, रस्सी न होती तो सर्प का भ्रम ही कहाँ से होता ? फिर, सर्प का अस्तित्व कहीं तो रहा ही होगा, जिसकी आकृति के आधार पर रस्सी में सर्प का भ्रम हुआ। इससे सिद्ध हुआ कि कोई वस्तु निराधार नहीं है, उसका अस्तित्व पहले से बना होने पर ही उसका रूप प्रकट हो सकता है ॥७८॥

अबाधाददुष्टकारणजन्यत्वाच्च नावस्तुत्वम् ॥७९॥

सूत्रार्थ—अबाधात्=बाधा न होने से, च=और, अदुष्ट, कारणजन्यत्वात्=दोष रहित कारण द्वारा उत्पन्न होने से, अवस्तुत्वम्=अवस्तु का होना, न=सिद्ध नहीं है।

व्याख्या—वस्तु है, इस बात में कोई विरोध न मिलने से और निर्दोष कारण द्वारा उत्पन्न होने से जगत् का अवस्तु होना सिद्ध नहीं होता। ऊपर के सूत्र से यह सिद्ध हो गया कि जगत पहिले से ही है अर्थात् कोरी भ्रान्ति नहीं है, वह अपने कारण रूप प्रकृति में विद्यमान रहता है और जब सृष्टि रचना का समय आता है, तब प्रकट हो जाता है, उसके प्रकट होने में कोई दोष अर्थात् बाधा उत्पन्न नहीं होती। इस प्रकार प्रवाह रूप से (निरन्तर) जगत की स्थिति बनी रहती हैं, इन सब उदाहरणों से जगत का अवस्तु रूप होना किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता ॥७९॥

भावे तद्योगेन तत्सिद्धिरभावे तदभावात् कुतस्तरां तत्सिद्धिः ॥८०॥

सूत्रार्थ—भावे=होने पर, तद्योगेन=उनके संयोग से, तत्सिद्धिः=उसकी सिद्धि होती है, अभावे=न होने पर, तद-अभावात्=उसके न होने से, तत्सिद्धिः=उसकी सिद्धि,कुतस्तरां =किस प्रकार हो सकती है ?

व्याख्या—यदि मूल कारण है तो उसके द्वारा कार्य रूप जगत् की उत्पत्ति भी हो सकती है। "असतः सदजायत" असद् से सत् उत्पन्न होता है। यदि असत् रूप मूल कारण ही न होगा तो सत् रूप जगत् ही कहाँ से उत्पन्न हो सकेगा ॥८०॥

न कर्मण उपादानत्वायोगात् ॥८१॥

सूत्रार्थ—कर्मण=कर्म का, उपादानत्व-अयोगात्=उपादानत्व का संयोग न होने से, न=जगत् का उपादान कर्म नहीं हो सकता।

व्याख्या—यदि यह कहें कि प्रकृति का अस्तित्व मानना ही व्यर्थ है, कर्म अर्थात् क्रिया से ही जगत् उत्पन्न हो सकता है तो इस शङ्का का समाधान इस प्रकार है कि कर्म से किसी वस्तु की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि कर्म के द्वारा अप्रकट वस्तु, प्रकट तो हो सकती है, किन्तु, जिसका अस्तित्व ही नहीं, वह किसी प्रकार प्रकट होगी ? मिट्टी होगी तो घड़ा बनाने वाली क्रिया से घड़ा बनेगा, यदि मिट्टी ही न होगी तो क्रिया निरर्थक है ! इस प्रकार क्रिया किसी अवस्तु को उत्पन्न नहीं कर सकती, इसलिए जगत् को क्रिया उत्पन्न नहीं कर सकती ॥८१॥

नानुश्रविकादपि तत्सिद्धिः साध्यत्वेनावृत्तियोगादपुरुषार्थत्वम् ॥८२॥

सूत्रार्थ—आनुश्रविकात्=अनुष्ठानादि कर्म से, अपि=

भी, तत्सिद्धिः=उनकी सिद्धि, न=नहीं है, साध्यत्वेन=साध्य होने से (और) आवृत्तियोगात्=आवृत्ति का योग होने से, अपुरुषार्थत्वम्=पुरुषार्थ की सिद्धि नहीं होती।

व्याख्या—लौकिक कर्म या वेद-प्रतिपादित यज्ञ, अनुष्ठान आदि कर्म से पुरुषार्थ की सिद्धि नहीं होती, यद्यपि वे कर्म साध्य हैं अर्थात् उनके करने में कोई कठिनाई नहीं है, फिर भी उन कर्मों के करने से दुःख-सुख की बार-बार प्राप्ति होती रहती है। इन कर्मों से मनुष्य भोग सामग्री से सम्पन्न हो सकता है, किन्तु मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती, इसलिए सूत्रकार ने इन कर्मों को 'अपुरुषार्थ' कह कर पुरुषार्थ नहीं माना है ॥८२॥

तत्र प्राप्तविवेकस्यानावृत्तिश्श्रुतिः ॥८३॥

सूत्रार्थ—तत्र=उस चेतन-अचेतन में, प्राप्त विवेकस्य=विवेक पाये हुए व्यक्ति का, अनावृत्ति=संसार में न लौटना, श्रुतिः=श्रुति बताती है।

व्याख्या—जिस जिज्ञासु को चेतन-अचेतन के सम्बन्ध में ज्ञान हो जाता है, वह अपने उस ज्ञान के कारण मोक्ष को प्राप्त कर लेता है, ऐसा जीव संसार में फिर नहीं लौटता। यजुर्वेद (३१-१८) "वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं" इत्यादि के अनुसार 'अचेतन से भिन्न तेजस्वी चेतन पुरुष को मैंने जान लिया है, उसे जानकर ही जन्म मरण के बन्धन से छुटकारा मिलता है, इसके सिवा मुक्त होने का कोई दूसरा मार्ग नहीं है।' इससे भी यही सिद्ध होता है कि ज्ञानी पुरुष मोक्ष के बाद संसार में लौट कर नहीं आता ॥८३॥

दुःखाद्दुःखं जलाभिषेकवन्न जाड्यविमोकः ॥८४॥

सूत्रार्थ—दुःखात्-दुख=दुःख से दुःख की प्राप्ति होती है,

जलाभिषेकवत्=जैसे जल में स्नान करने से, जाड्यविमोकः=जाड़े से छुटकारा, न=नहीं मिलता।

व्याख्या—सांसारिक भोगों की कामना दुःख को उत्पन्न करने वाली है, उसके द्वारा जिन भोगों की प्राप्ति होती है, वे भोग भी दुःख रूप हो जाते हैं। जैसे जल में स्नान करने से ठण्ड से छुटकारा नहीं मिलता, जाड़ा ही लगता है, वैसे ही भोगों की कामना क्षणिक सुख की उत्पत्ति भले ही करती हो, किन्तु वह दुःख के ही बढ़ाने वाली सिद्ध होती है ॥८४।

काम्येऽकाम्येऽपि साध्यत्वाविशेषात् ॥८५॥

सूत्रार्थ—काम्ये=कामना वाले कर्म और, अकाम्ये=कामना रहित कर्म में, अपि=भी साध्यत्व=साधन योग्य कर्म की, अविशेषात्=विशेषता नहीं है।

व्याख्या—कामना वाले कर्मों का अनुष्ठान करने पर अथवा निष्काम कर्म (जिससे सांसारिक भोग की कामना न हो) करने पर भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। क्योंकि कामना वाले कर्म तो भोगों की प्राप्ति के लिए होते ही हैं, किन्तु कामना-रहित कर्म मोक्ष प्राप्ति के लिए होने पर भी, चेतन-अचेतन का जब तक ज्ञान नहीं हो जाता, तब तक मोक्ष प्राप्त नहीं करा सकते। इससे सिद्ध हुआ कि निष्काम कर्म ज्ञान के बिना, कुछ विशेषता नहीं रखते।

निजमुक्तस्य बन्धध्वंसमात्रं परं न समानत्वम् ॥८६॥

सूत्रार्थ—निजमुक्तस्य=स्वयं मुक्त आत्मा का, बन्धध्वंसमात्रम्=बन्धन निवृत्ति मात्र है और, परम=यही अत्यन्त पुरुषार्थ है, (इसकी कर्म फल से) समानत्वम्=समानता, न=नहीं है।

व्याख्या—कामना वाले कर्मों का अनुष्ठान करने पर, अथवा निष्काम कर्म (जिसमें सांसारिक भोग की कामना न हो) करने पर भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। क्योंकि कामना वाले कर्म तो भोगों की प्राप्ति के लिए होते ही हैं, किन्तु कामना-रहित कम मोक्ष प्राप्ति के लिए होने पर भी, चेतन-अचेतन का जब तक ज्ञान नहीं हो जाता, तब तक मोक्ष प्राप्त नहीं करा सकते। इससे सिद्ध हुआ कि निष्काम कर्म भी, ज्ञान के बिना, कुछ विशेषता नहीं रखते।

निजमुक्तस्य बन्धध्वंसमात्रं परं न समानत्वम् ॥८६॥

सूत्रार्थ—निजमुक्तस्य=स्वयं मुक्त आत्मा का, बन्ध-ध्वंसमात्रम्=बन्धन निवृत्ति मात्र है और. परम=यही अत्यन्त पुरुषार्थ है (इसकी कर्म-फल से) समानत्वम्=समानता, न= नहीं है।

व्याख्या—जो स्वभाव से मुक्त है, वह आत्मा, जड़ प्रकृति के सम्पर्क में आकर ही बन्धन में पड़ा माना जाता है, उस समय वह अपने स्वरूप को भूलकर स्वयं को ही अचेतन समझने लगता है, इसी को अविवेक कहते हैं। इस अविवेक का नाश तब होता है जब वह अपने स्वरूप का दर्शन करता है और चेतन-अचेतन का ज्ञान प्राप्त कर लेता है तब, भोग उत्पन्न करने वाला, प्रकृति का सम्पर्क उससे छूट जाता है। यही स्थिति बन्धन से निवृत्ति कही जाती है और इसी का नाम मोक्ष है, यही अत्यन्त पुरुषार्थ माना गया है और प्रकृति से उत्पन्न फल रूपी भोगों में और इसमें बिल्कुल भी समानता नहीं है ॥८६॥

द्वयोरेकतरस्य वाप्यसन्निकृष्टार्थपरिच्छत्तिः प्रमा-तत्साधकतमं यत्तत् त्रिविधं प्रमाणम् ॥८७॥

सूत्रार्थ—द्वयो-जानने वाला और जानने योग्य दोनों,

चापि=अथवा, एकतरस्य=इन दोनों में से एक को, असन्निकृष्टार्थपरिच्छित्तिः=पहिले न जाने हुए का निश्चयात्मक ज्ञान, प्रमा=प्रमा (कहा गया है), तत्साधकतमं यत्=उस प्रमा का जो अत्यन्त साधक कारण है, त त्=वह, त्रिविधं प्रमाणं=तीन प्रकार का प्रमाण है ।

व्याख्या—जिस अर्थ को पहिले कभी नहीं जाना और उसे निश्चय रूप से जान लेने को ही 'प्रमा' कहते हैं । चाहे यह ज्ञान जानने वाली बुद्धि को हो, चाहे जानने योग्य आत्मा को हो । उस प्रमा का जो श्रेष्ठ साधन है और जिसके तुरन्त बाद प्रमा उत्पन्न हो जाती है, वह साधन 'प्रमाण' कहा गया है यह प्रमाण प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द—इन तीन प्रकार का है । जो किसी विषय को सिद्ध करने के लिए सामने दिखाई पड़े, वह प्रत्यक्ष प्रमाण है, इसे सर्वश्रेष्ठ माना गया है, जिस किसी विषय की सिद्धि के लिए अनुमान से काम लेना पड़े वह अनुमानिक प्रमाण है और विषय की सिद्धि के लिए श्रुति आदि के प्रमाण को शब्द प्रमाण कहते हैं ।

तत्सिद्धौ सर्वसिद्धेर्नाधिक्यसिद्धिः ॥८८॥

सूत्रार्थ—तत्सिद्धौ—उन तीन प्रमाणों के सिद्ध होने पर, सर्वसिद्धेः=सब की सिद्धि हो जाती है, आधिक्यसिद्धिः=अधिक की सिद्धि, न=नहीं है ।

व्याख्या—तीनों प्रकार के प्रमाणों के सिद्ध हो जाने पर, सम्पूर्ण अर्थ की सिद्धि हो जाती है, अधिक प्रमाणों की सिद्धि के लिए कोई जानने योग्य विषय शेष नहीं रहता । इस प्रकार तीन प्रकार के प्रमाण ही माने गये हैं ॥८८॥

यत्सम्बद्धं सत् तदाकारोल्लेखि विज्ञानं तत् प्रत्यक्षम् ॥८९॥

सूत्रार्थ—यत्सम्बद्धं सत=जिसके सत् सम्बन्ध से, तदाकारोल्लेखि=उसी आकार धारण करने वाला, तत्=वह, विज्ञानम्=विज्ञान, प्रत्यक्षम्=प्रत्यक्ष प्रमाण है।

व्याख्या—इस सूत्र में प्रत्यक्ष प्रमाण का रूप बताया गया है। नेत्र आदि के द्वारा बुद्धि जब बाहरी विषयों को ग्रहण करती है, तब वह उस दिखाई पड़ने वाले दृष्ट का आकार ले लेती है, बुद्धि की इस स्थिति को 'बुद्धिवृत्ति' कहते हैं। यह बुद्धिवृत्ति ही 'विज्ञान' कही गई है, इसी का नाम 'प्रत्यक्ष प्रमाण' है। यह वृत्ति ही आत्मा के साथ विषय का संयोग कराती हुई उसे सुख-दुःख का अनुभव कराती है। इसी के द्वारा उसे सभी सांसारिक विषयों का ज्ञान होता है परन्तु आत्मा में इन विषयों के अनुभव होने से, कोई विकार उत्पन्न नहीं होता, बल्कि वह अपने चेतन स्वभाव के कारण सुख, दुःख का अनुभव मात्र करता है। उसके अनुभव को ही 'प्रमा' कहते हैं ॥८९॥

योगिनामबाह्यप्रत्यक्षत्वान्न दोषः ॥९०॥

सूत्रार्थ—योगिनाम्=योगियों को, अबाह्य प्रत्यक्षत्वात्=अबाह्य (भीतर) होने से, न=दोष नहीं है।

व्याख्या—गृहस्थों को तो बाहरी विषय दिखाई देते हैं किन्तु, योगीजन समाधि मग्न होकर अबाह्य अर्थात् नेत्र आदि इन्द्रियों से ग्रहण न होने वाले विषय, चेतन स्वरूप आत्मा का साक्षात्कार करते हैं, इससे उन्हें प्रत्यक्ष विषय ग्रहण न होने का दोष नहीं लगता। इसे दूसरे प्रकार से यों समझना चाहिए कि योगी की बुद्धि अपने योग के बल से, सभी उत्पन्न तत्वों के मूल कारण से अपना सम्बन्ध बना कर, सब तत्वों से साक्षात् करती रहती है इस स्थिति में बाहरी विषयों की ओर ध्यान न होना स्वाभाविक है और तब 'कोई विषय इन्द्रियों के बिना ग्रहण करना संभव नहीं यह शङ्का निराधार सिद्ध हो जाती है ॥९०॥

लीनवस्तुलब्धातिशयसम्बन्धाद्वाऽदोषः ॥९१॥

सूत्रार्थ—वा=अथवा, लीनवस्तुलब्धातिशयसम्बन्धा=लीन वस्तु का प्राप्ति का रूप अतिशय सम्बन्ध योगियों में पाया जाता है, इसलिए, अदोषः=कोई दोष नहीं है ।

व्याख्या—जो वस्तु अपने कारण में लीन हो जाती है, उससे भी योगीजन अपना सम्पर्क स्थापित कर लेते हैं जो कि साधारण मनुष्य इन्द्रियों के द्वारा नहीं कर सकता । इस प्रकार लौकिक मनुष्यों से विलक्षण होने के कारण, योगियों का इन्द्रियों द्वारा ग्रहण न हो सकने वाले विषयों के ग्रहण कर लेने की बात अत्युक्ति अथवा दोषपूर्ण नहीं मानी जा सकती है ॥९१॥

ईश्वरासिद्धेः ॥९२॥

सूत्रार्थ—ईश्वरासिद्धेः=ईश्वर की सिद्धि भी इन्द्रियों से नहीं होती ।

व्याख्या—यदि कोई कहे कि इन्द्रियों के बिना कोई वस्तु प्रत्यक्ष नहीं होती, तो इससे यह भी मानना पड़ेगा कि ईश्वर से साक्षात्कार भी इन्द्रिय द्वारा ही हो सकता है । परन्तु, ऐसी बात नहीं है, ईश्वर से साक्षात्कार तो इन्द्रियों के बिना ही होता है । जैसे जो बात विद्वान् के लिए यथार्थ है, वह बात बालक के लिए असम्भव प्रतीत होती है । इसी प्रकार योगियों को बिना इन्द्रियों के ही आत्मा का साक्षात्कार आदि होता है, ऐसा मानने में कोई दोष नहीं है ॥९२॥

मुक्तबद्धयोरन्यतराभावान्न तत्सिद्धिः ॥९३॥

सूत्रार्थ—मुक्तबद्धयोः=मुक्त और बद्ध, इनके अन्यतर=नितान्त (बिल्कुल) अभावात्=अभाव से, तत्सिद्धि=ईश्वर की सिद्धि, न=नहीं होती ।

व्याख्या—चेतन तत्व दो स्थितियों में रहता है मुक्त या वद्ध। ईश्वर को यदि मुक्त मानें तो जगत उसका परिणाम (उसकी रचना) नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसी-अवस्था में वह परिणामी हो जायगा और यदि उसे वन्धन में मानें तो कर्म के साथ सम्बन्ध होने से वह जगत को उत्पन्न करने वाला ईश्वर नहीं हो सकता। इस प्रकार ईश्वर को न मुक्त कह सकते हैं और न बन्धन में ही कह सकते हैं, क्योंकि ईश्वर में यह दोनों अवस्थाएं नहीं हैं ।।९३।

उभयथाप्यसत्करत्वम् ।।९४।।

सूत्रार्थ—उभयथापि=दोनों अवस्थाओं में भी, असत्कर-त्वम्=असत का कर्त्तव्य-दोष आता है।

व्याख्या—मुक्त या वद्ध इन दोनों अवस्थाओं वाला तत्व चेतन तो होगा ही, इस प्रकार के चेतन रूप ईश्वर के द्वारा अचेतन जगत का रचा जाना संभव नहीं हो सकता। क्योंकि चेतन पुरुष परिणामी नहीं होता, इसलिये जिसका जगत रूप परिणाम हो, वह ईश्वर नहीं हो सकता। यदि उसे परिणामी मान भी लें तो उसे अचेतन मानना पड़ेगा, किन्तु किसी भी शास्त्र अथवा श्रुति में ईश्वर को अचेतन नहीं माना है, इस प्रकार अनित्य माने गये ईश्वर द्वारा जगत की रचना नहीं हो सकती ।।९४।।

मुक्तात्मनः प्रशंसा उपाससिद्धस्य वा ।।९५।।

सूत्रार्थ—मुक्तात्मनः=मुक्त आत्मा की, प्रशंसा=प्रशंसा है, वा अथवा, उपासा-सिद्धस्थ=उपासना के सिद्ध करने वाले स्वरूप का वर्णन है।

व्याख्या—श्रुतियों में, ईश्वर की मुक्तात्मा आदि विशेषणों से प्रशंसा की गई है, वहाँ उसके जिस स्वरूप का वर्णन किया गया है

वह स्वरूप उपासकों की उपासना को सिद्ध करने के लिए साधन रूप है। उस समय उसे जगत् का उत्पन्न करने वाला कह कर भी उपासकों की भावना-वृद्धि की गई है, किन्तु वह प्रशंसात्मक वर्णन, अर्थ की यथार्थता का सूचक नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि उन सब वर्णनों में जिनमें ईश्वर को जगत् का कारण कहा गया है, उपासकों के विषय में शब्द-प्रमाण रूप में स्वीकार नहीं किये जा सकते ॥९५॥

तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत् ॥९६॥

सूत्रार्थ—सत्सन्निधानात्=उसकी समीपता से, मणि-वत्=मणि के समान, अधिष्ठातृत्वम्=ईश्वर का अधिष्ठातापन सिद्ध है।

व्याख्या—जैसे चुम्बक, लोहे की समीपता से ही उसे खींच लेता है, उसकी इस विशेष क्रिया के समान ही, ईश्वर भी प्रकृति की समीपता से ही, उसका अधिष्ठाता बनता है, क्योंकि चेतन ईश्वर की प्रेरणा के बिना जड़ प्रकृति में किसी कार्य की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। प्रकृति की प्रत्येक क्रिया चेतन की प्रेरणा से ही सम्भव है, इससे सिद्ध होता है कि चेतन ईश्वर अपनी समीपता से ही प्रकृति को चलाता रहता है। जैसे चुम्बक अपनी सामर्थ्य से लोहे को विचलित कर देता है, वैसे ही ईश्वर अपने सामर्थ्य से प्रकृति को विचलित कर देता है, इतने से ही ईश्वर का ईश्वरत्व बन जाता है। इस प्रकार ईश्वर जगत् का उत्पन्न करने वाला नहीं, बल्कि प्रकृति में क्षोभ करने वाला है, जिससे वह जगत् की रचना में प्रवृत्त होती है। इसे यजुर्वेद 'तदेज-तितन्नेजति' से ईश्वर को 'सक्रिय' और निष्क्रिय दोनों प्रकार का बताया जाता है। प्रकृति में क्षोभ उत्पन्न करने वाला होने से 'सक्रिय' और स्वयं जगत का सृष्टि न होने से निष्क्रिय कहना यथार्थ है ॥९६॥

विशेषकार्येष्वपि जीवानाम् ॥६७॥

सूत्रार्थ—विशेषकार्येषु=विशेष कार्यों में, जीवानाम्=जीवों का, अपि=भी अधिष्ठाता होना सिद्ध है।

व्याख्या—जैसे सब जगत् का अधिष्ठाता ईश्वर है, वैसे ही जीवात्मा भी देह से सम्बन्धित देखने, सुनने, मनन करने आदि कार्यों के कारण, देह का अधिष्ठाता है। क्योंकि देह और उसकी इन्द्रियों में सब प्रकार की प्रवृत्ति, चेतन जीव की निकटता से ही हो सकती है, उसके बिना देह और उसकी इन्द्रियाँ किसी भी कार्य में समर्थ नहीं है ॥६७॥

सिद्धरूपबोद्धृत्वाद वाक्यार्थोपदेशः ॥६८॥

सूत्रार्थ—सिद्धरूपबोद्धृत्वात्=सिद्धरूप आत्मा ज्ञाता है, इसलिए वाक्यार्थोपदेशः=वाक्यार्थ का उपदेश है।

व्याख्या—आत्मा अविनाशी अथवा सिद्ध रूप है, और ज्ञाता भी है। वृहदारण्यक श्रुति में "स ईयतेऽमृतो यत्र कामत" कहकर उसे 'अमृत रूप और कर्मानुसार जहाँ-तहाँ जाने वाला' बताया है। तैत्तरीयक श्रुति "विज्ञान यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च" में 'आत्मा को यज्ञ तथा अन्य कर्मों का अनुष्ठान करने वाला' कहा है। इस प्रकार श्रुति वचनों से आत्मा का कर्ता और भोक्ता होना ही सिद्ध होता है ॥६८॥

अन्तःकरणस्य तदुज्ज्वलितत्वात्लोहवदधिष्ठातृत्वम् ॥६९॥

सूत्रार्थ—अन्तःकरणस्य=अन्तःकरण के तदुज्ज्वलितत्वात्=आत्मा से प्रकाशित होने के कारण, लोहवत्=लोहे के समान, अधिष्ठातृत्वम्=अधिष्ठातापन सिद्ध है।

व्याख्या—जैसे लोहा अग्नि के तेज से लाल हो जाता है, तब,

उसमें वही लाली अर्थात् तेज लोहे का नहीं होता, अग्नि का ही होता है। वैसे ही चेतन आत्मा के तेज से अन्तःकरण प्रकाशित होता है, इससे आत्मा का अधिष्ठाता होना सिद्ध है। क्योंकि चेतन की निकटता से ही अन्तःकरण में प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, प्रवृत्तियों का आधार रूप होने पर भी अन्तःकरण आत्मा की सहायता के बिना कोई कार्य नहीं कर सकता। यहाँ सूत्रकार ने आत्मा क उज्ज्वल होने की जो बात कही है, उसका तात्पर्य आत्मा की प्रेरणा करने वाली शक्ति ही समझना चाहिए ॥९९॥

प्रतिबन्धदृशः प्रतिबद्धज्ञानमनुमानम् ॥१००॥

सूत्रार्थ—प्रतिबन्धदृशः=व्याप्ति को देखकर, प्रतिबद्ध-ज्ञानम्=व्यापक का जो ज्ञान होता है, वही अनुमानम्=अनुमान है।

व्याख्या—दो वस्तुओं के परस्पर सम्बन्ध को 'प्रतिबन्ध' अथवा 'व्याप्ति' कहते हैं, यह सम्बन्ध ऐसा हो जो एक दूसरे को छोड़ न सके। जिस वस्तु का धर्म उत्पन्न होना है वह नाशवान् भी है, उत्पन्न होना और नष्ट होना इन दोनों लक्षणों का नियत सम्बन्ध है, दूसरी बात यह है कि जो सत्व, रज, तम्, इन तीनों गुणों से युक्त है वह परिणामी है और जो परिणामी है वह त्रिगुणात्मक भी है। इसे यों समझिये कि कोई वस्तु त्रिगुणात्मक है तो उससे यह भी मान लेना होगा कि यह परिणामी है। इसी प्रकार धुँआ और अग्नि के सम्बन्ध को लीजिये—जहाँ धुँआ है, वहाँ अग्नि अवश्य होगी अथवा जहाँ अग्नि है वहाँ धुँआ अवश्य होगा। इस प्रकार जिसे देखने से अनुमान हो वह 'व्याप्य' और जिसके अस्तित्व का ज्ञान हो वह व्यापक समझना चाहिए ॥१००॥

आप्तोपदेशः शब्दः ॥१०१॥

सूत्रार्थ—आप्तोपदेशः=आप्त जन का उपदेश, शब्दः= शब्द-प्रमाण है।

व्याख्या—धर्मनिष्ट, श्रेष्ठ आचरण वाले ज्ञानी और पुरुषों को 'आप्त' कहते हैं। ऐसे पुरुष जो कुछ कहें, वही शब्द प्रमाण मानना चाहिए। उनके उपदेशों में भ्रम, प्रमाद आदि दोष वाधा नहीं डालते, बल्कि उनके उपदेशों में यथार्थ ज्ञान तथा भ्रम का निवारण होता है। वे जो निर्णय देते हैं, वह दूसरों के हित में तथा जन-कल्याण के पक्ष मे लाभकारी होता है, तथा विवाद उपस्थित होने पर आप्त जनों का निर्णय ही सर्वमान्य समझा जाता है। ऐसे आप्तजनों के उपदेश-ग्रन्थ 'आप्त-ग्रन्थ' कहे जाते हैं। वेद और उपनिषद् आप्त ग्रन्थ ही हैं और उनमें जो उपदेश हैं, शब्द प्रमाण रूप से स्वयं सिद्ध है। इसमें सिद्ध हुआ कि 'आप्त उपदेश' के प्रमाण मानने में कोई विरोध नहीं है।

उभयसिद्धि प्रमाणात् तदुपदेशः ॥१०२॥

सूत्रार्थ—उभयसिद्धिः=(चेतन-अचेतन) दोनों की सिद्धि, तदुपदेशः=वैसा ही उपदेश होने से, प्रमाणात्=प्रमाण के द्वारा होती है।

व्याख्या—चेतन और अचेतन दोनों प्रकार के तत्वों का ज्ञान प्रमाण से ही होता है, इसलिए चेतन-अचेतन का उपदेश किया गया है। शास्त्रों ने जगत् को चेतन और अचेतन सृष्टि के रूप से दो वर्गों में रखा है और इनके इस प्रकार होने के सम्बन्ध में, वैसा ही उपदेश किया है।।१०२॥

सामान्यतोदृष्टादुभयसिद्धिः ॥१०३॥

सूत्रार्थ=सामान्यतोदृष्टात्=अनुमान से, उभयसिद्धिः= प्रकृति और पुरुष दोनों की सिद्धि है।

व्याख्या—अनुमान के तीन भेद कहे गए हैं (१, पूर्ववत्, (२) शेषवत् और (३) सामान्यतोदृष्ट। जहाँ कारण के द्वारा कार्य का अनुमान हो, जैसे बादलों को देखकर वर्षा का अनुमान हो, इसे पूर्ववत् अनुमान' कहा जायगा, जहाँ कार्य से कारण का अनुमान हो, अर्थात् बाढ़ के बढ़ते हुए पानी को देखकर समझ लें कि ऊपर की ओर कहीं वर्षा हुई होगी-यह 'शेषवत् अनुमान' है और साधारण रूप से किसी गाय के सींग को देखकर यह समझ लें कि सब गायों के सींग होंगे, इसे 'सामान्यतोदृष्ट अनुमान' कहा जायगा। इसी सामान्यतोदृष्टात् से जहाँ कार्यं होगा वहाँ कारण भी होगा अथवा प्रकृति होगी तो पुरुष भी होगा यह मानना ठीक है। इससे प्रकृति और पुरुष दोनों की सिद्धि होती है ।।१०३।।

चिदवसानो भोगः ।।१०४।।

सूत्रार्थ—चिद्-अवसानो = चैतन्यता का अवसान (अभाव), भोगः = भोग है।

व्याख्या—सुख-दुःख का अनुभव होना ही 'भोग' कहा जाता है। यह भोग चेतन आत्मा से मिलकर समाप्त हो जाते हैं। यहाँ भोग और भोक्ता का स्पष्ट विभाग दिखाई देता है, क्योंकि भोग अचेतन होते हैं और भोक्ता चेतन जीवात्मा है। उन भोगों की समाप्ति जीवात्मा में हो जाती है, किन्तु जीवात्मा को भोगों की अनुभूति होने पर भी उसमें कोई विकार नहीं आता। सुख-दुखों का अनुभव आत्मा की स्थिति को किसी प्रकार बदलता नहीं, जैसे रङ्गीन वस्त्र का प्रतिबिम्ब शीशा पर पड़ने से, उसमें लाल वस्त्र दिखाई देता है, परन्तु यथार्थ में शीशा वैसा है नहीं, उसका रूप बदलता नहीं। वैसे ही देह के भोगों से आत्मा का रूप नहीं बदलता, वह सदा एक जैसा रहता है ।।१०४।।

अकर्तुरपि फलोपभोगोऽन्नाद्यवत् ॥१०५॥

सूत्रार्थ—अकर्त्तुः=अकर्त्ता को, अपि=भी, अन्नाद्यवत् =अन्न आदि के समान, फलोपभोगः=फल का उपभोग होता है।

व्याख्या—यदि यह शङ्का हो कि आत्मा अकर्त्ता है तो वह भोक्ता नहीं हो सकता, क्योंकि जो कर्म करे, वही फल को भोगे। इसका समाधान यह है कि रसोई एक व्यक्ति बनाकर तैयार करता है और उसे बहुत से आदमी खाते हैं। यदि अकर्त्ता को भोग का अधिकार न हो तो हर व्यक्ति को अपना-अपना भोजन स्वयं पकाना चाहिए, किन्तु, लोक में ऐसा नहीं होता। इससे सिद्ध होता है कि करने वाला एक है तो उसका भोग करने वाले अनेक तथा न करने वाले भी हो सकते हैं ॥१०५॥

अविवेकाद्वा तत्सिद्धेः कर्त्तुः फलावगमः ॥१०६॥

सूत्रार्थ—वा=अथवा, तत्सिद्धेः=अकर्त्ता में भोग की सिद्धि होने से, अविवेकात्=अविवेक से, कर्त्तुः=कर्त्ता को, फलावगमः=फल की प्राप्ति मानते हैं।

व्याख्या—उपरोक्त प्रकार से अकर्त्ता का भोक्तापन सिद्ध हो गया तो कर्त्ता को ही भोगने वाला मानना अविवेक है। क्योंकि चेतन स्वरूप आत्मा बद्ध अवस्था में आकर, विवेक को भूलकर, अपने को करने वाला या भोगने वाला मानने लगता है। किन्तु यह धर्म उसके नहीं शरीर के हैं और अविवेक के कारण शरीर को प्राप्त होने वाले सुख-दुःखों को अपने में ही प्राप्त हुआ मानने लगता है ॥१०६॥

नोभयं च तत्वाख्याने ॥१०७॥

सूत्रार्थ—च=और, तत्वाख्याने=तत्व का ज्ञान हो जाने

पर, उभयं=अविवेक और दुःख-सुख की अनुभूति, यह दोनों बातें ही, न=नहीं रहतीं।

व्याख्या—आत्म-साक्षात् हो जाने पर, अविवेक दूर हो जाता है और जीव अपने यथार्थ रूप को जान लेता है, तब उसे सुख-दुःख का अनुभव व्याप्त नहीं करता। उसे देह के विकार कष्ट नहीं देते और देह से सम्बन्धित व्यक्तियों के मोह-ममता को भी त्यागकर अपने यथार्थ स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। यदि यहाँ 'उभय' शब्द से कर्त्ता और 'भोक्ता' का अर्थ लगावें तो आत्मज्ञान प्राप्त कर लेने पर आत्मा द्वारा कर्त्तापन और भोक्तापन की भावना भी समाप्त हो जाती है ।।१०७।

विषयोऽविषयोऽप्यतिदूरादेर्हानोपादानाभ्याम् इन्द्रियस्य ।।१०८।।

सूत्रार्थ=इन्द्रियस्य=इन्द्रिय का, विषयः=विषय होना और, अविषयः=अविषय अर्थात् इन्द्रिय का विषय न होना, अतिदूरादेः=अति दूर आदि होने से, हानोपादानभ्याम्=हानि (लीन) और उपादान (प्रकट होना) संभव है।

व्याख्या—कोई वस्तु इन्द्रिय से दिखाई न पड़े तो यह नहीं माना जा सकता कि वह वस्तु है ही नहीं, क्योंकि, बहुत दूर स्थित कोई भवन, पर्वत या बगीचा प्रत्यक्ष अस्तित्व होने पर भी आँख से ओझल रहता है और दिखाई नहीं देता है। इस प्रकार जो पदार्थ निकट है, वह दिखाई देता है, और जो बहुत दूर होता है, वह दिखाई नहीं देता, तो जो इन्द्रिय का विषय है वह दूर होने पर इन्द्रिय का विषय नहीं रहता। इससे सिद्ध है कि दिखाई न पड़ने से यह नहीं कहा जा सकता कि प्रकृति आदि कुछ है ही नहीं ।।१०८।।

सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धि ॥१०९॥

सूत्रार्थ—सौक्ष्म्यात्=सूक्ष्मता से, तदनुपलब्धिः=उनकी उपलब्धि नहीं है।

व्याख्या—प्रकृति आदि तत्व इतने सूक्ष्म हैं कि इन्द्रिय से दिखाई नहीं देते। यह बात प्रत्यक्ष है कि हम बहुत से सूक्ष्म पदार्थों को यन्त्रों की सहायता से देखने का यत्न करते हैं और उनमें से अनेक पदार्थ हमें दूरबीन आदि की सहायता से दिखाई भी पड़ जाते हैं। नेत्र द्वारा दिखाई न पड़ने वाले जो पदार्थ यन्त्रों की सहायता से दिखाई पड़ने लगते हैं, तो उन पदार्थों का अस्तित्व प्रत्यक्ष रूप में सिद्ध होता है। इसी प्रकार अन्य पदार्थ भी, जो यन्त्रों की सहायता से भी दिखाई नहीं पड़ते, अस्तित्व-हीन नहीं माने जा सकते ॥१०९॥

कार्यदर्शनात्तदुपलब्धेः ॥११०॥

सूत्रार्थ—कार्यदर्शनात्=कार्य के देखने से, तत्=उसकी उपलब्धेः=प्राप्ति है।

व्याख्या—कार्य अर्थात् सृष्टि के देखने से ही प्रकृति का ज्ञान हो जाता है। यदि प्रकृति न होती तो सृष्टि ही कहाँ से होती? जब यह जगत् प्रत्यक्ष सामने है तो इसका कोई मूल उपादान (उत्पन्न करने वाला कारण) अवश्य होगा, क्योंकि कोई भी अचेतन पदार्थ अपने उत्पादक कारण के बिना प्रकट नहीं हो सकता। इसी सिद्धान्त से जगत् के उत्पादन करने वाली प्रकृति का ज्ञान होता है ॥११०॥

वादिविप्रतिपत्तेस्तदसिद्धिरिति चेत् ॥१११॥

सूत्रार्थ—वादिविप्रतिपत्तेः=वादी की तर्कपूर्ण मान्यता से, चेत्=यदि, तत्=उसकी, असिद्धिरिति=असिद्धि है, ऐसा कहो, तो नहीं कह सकते।

व्याख्या—वादियों ने अनेक प्रकार के तर्क प्रकृति के उपादान न होने के सम्बन्ध में प्रस्तुत किये हैं। किसी ने ईश्वर से सीधी ही जगत् की उत्पत्ति कही है। किसी ने स्वभाव को ही संसार का उत्पन्न करने वाला कहा है। किसी ने बिना किसी कारण के जगत् की स्वतः उत्पत्ति बताई है। किसी ने सूक्ष्म भूतों को जगत् का उपादान कहा है। परन्तु उनके कह देने भर से तो प्रकृति का न होना, नहीं माना जा सकता ? इन सब तर्कों को निराधार सिद्ध करते हुए, अगले सूत्र में स्पष्ट किया है ॥१११॥

तथाप्येकतरदृष्टया एकतरसिद्धेर्नापलापः ॥११२॥

सूत्रार्थ—एकतरदृष्ट्या=एक दृष्टि से, तथापि=वैसा मान लेने पर भी, एकतरसिद्धेः=एक की सिद्धि होने से, अपलाप=मिथ्याकथन, न=नहीं बनता।

व्याख्या—एक दृष्टि अर्थात् कार्य को देखने से, दूसरे की सिद्धि अर्थात् कारण की सिद्धि हो जाती है। यदि वादियों के तर्कों को मान भी लें तो कार्य का प्रत्यक्ष उदाहरण वादियों की मान्यता को मिथ्या सिद्ध करता है। फिर, वादियों ने कार्य और कारण भाव अर्थात् उत्पन्न पदार्थ और उत्पन्न करने वाले पदार्थ दोनों का होना तो माना ही है, तब उत्पन्न पदार्थ के प्रत्यक्ष होने से उत्पन्न करने वाले कारण रूप प्रकृति का मान लेना मिथ्या नहीं हो सकता। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि प्रकृति से ही जगत् उत्पन्न हुआ है ॥११२॥

त्रिविधविरोधापत्तेश्च ॥११३॥

सूत्रार्थ—त्रिविध=कार्यों के तीन प्रकार होने के, विरोधापत्तेः=विरोध की प्राप्ति से, च=भी (प्रकृति से जगत् की) उत्पत्ति होना सिद्ध है।

व्याख्या—सब कार्य तीन प्रकार के अथवा तीन कालों से सम्बन्धित माने गए है—(१) अतीत अर्थात् बीता हुआ—जो कार्य हो चुका वह 'अतीत' है (२) अनागत अर्थात् होने वाला—जो कार्य भविष्य में होगा वह 'अनागत' है और, (३) वर्तमान—जो कार्य अब हो रहा है, वह 'वर्तमान' कहा जाता है। अतीत - जैसे घट टूट गया या वस्त्र फट गया, यदि घट न टूटता या वस्त्र न फटता तो घट का न होना सिद्ध न होता' अथवा कार्य का वर्तमान रूप न होता तो घड़ा या वस्त्र मौजूद है यह बात सिद्ध नहीं होती, यदि अनागत रूप न होता तो 'वस्त्र बनेगा' इस बात की सिद्धि नहीं होती। किन्तु कार्य के तीनों रूप प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं, इससे जगत् की उत्पत्ति 'प्रकृति द्वारा हुई है, यही मान्यता ठीक है ॥११३॥

नासदुत्पादो नृश्रृंगवत् ॥११४॥

सूत्रार्थ—नृश्रृंगवत्=मनुष्य के सींग के समान, असदुत्पादो=असत् का उत्पन्न होना, न=सम्भव नहीं है।

व्याख्या—जैसे मनुष्य के सींग नहीं होते, वैसे ही असत् पदार्थ कभी उत्पन्न नहीं हो सकता। जिस पदार्थ को हम उत्पन्न हुआ देखते हैं, वह उत्पन्न होने से पहिले असत् अर्थात् अस्तित्वहीन रहा हो, यह सम्भव नहीं है। कार्य अर्थात् उत्पन्न वस्तुऐं अपने उत्पन्न करने वाले (कारण) में लीन रहती हैं और रचना के समय प्रकट हो जाती हैं। इस प्रकार प्रत्येक कार्य उत्पत्ति से पहिले अपने कारण में विद्यमान रहता है ॥११४॥

उपादाननियमात् ॥११५॥

सूत्रार्थ—उपादान नियमात्=उपादान का नियम होने से ऐसा मानना चाहिए।

व्याख्या—कोई भी वस्तु हो, उसके उत्पन्न करने वाले कारण का होना नियम है। कोई, कैसा भी कार्य हो, उसका कारण अवश्य होगा। उस कारण का भी एक नियम है कि जो वस्तु जिस नियत कारण से बनती है, वह उसी से बनेगी। कोई चाहे कि किसी भी कारण से कोई भी वस्तु बनाले, तो ऐसा नहीं हो सकता। मिट्टी से कपड़ा नहीं बन सकता और कपास से घड़ा नहीं बन सकता। यदि कार्य के लिये कारण का नियम न होता तो मिट्टी से कपड़ा बन सकता था। इससे भी सिद्ध होता है कि उत्पन्न होने से पहिले भी कार्य का अपने कारण में अस्तित्व रहता है, यही मान्यता ठीक है ॥११५॥

सर्वत्र सर्वदा सर्वासम्भवात् ॥११६॥

सूत्रार्थ—सर्वत्र=सब जगह, सर्वदा=हमेशा, सर्व असम्भवात्=सब वस्तुऐं नहीं होती, इससे भी उक्त मान्यता उचित सिद्ध होती है।

व्याख्या—सब वस्तुऐं सब जगह नहीं होती, कोई वस्तु कभी होती है और कोई कभी, इस प्रकार सब वस्तुऐं हमेशा नहीं होती। यदि सब वस्तुऐं चाहे जिस कारण से उत्पन्न हो सकती, तो यह माना जा सकता था कि कार्य के लिए कारण की आवश्यकता नहीं है और बिना कारण के ही कार्य हो जाता है। परन्तु, प्रत्यक्ष रूप ऐसा नहीं है इससे भी कार्य का अपने कारण में विद्यमान रहना सिद्ध होता है ॥११६॥

शक्तस्य शक्यकरणात् ॥११७॥

सूत्रार्थ—शक्तस्य=शक्तिवान् द्वारा, शक्य करणात्=शक्य करने से भी यही मान्यता ठीक है।

व्याख्या—जिसमें शक्ति है, उसे शक्त अथवा शक्तिवान् कहते हैं और शक्तिवान् का जो कार्य है वही शक्य कहलाता है। इसका

तात्पर्य यह है कि शक्तिवान् ही शक्ति से सम्बन्धित कार्य कर सकता है। जो बलवान् है वही बल का प्रदर्शन करेगा, जिसमें बल है ही नहीं तो वह पहलवानी क्या करेगा अथवा कुश्ती कैसे लडेगा ? अब इसे स्पष्ट रूप में समझिए कि शक्ति का प्रदर्शन करने से पहिले से ही पहलवान में शक्ति मौजूद है, यदि ऐसा नहीं होता तो वह कुश्ती नहीं लड़ सकता था। इससे भी कार्य का अपने कारण में पहिले से ही विद्यमान रहना सिद्ध होता है ॥११७॥

कारणभावाच्च ॥११८॥

सूत्रार्थ - कारणभावात् =कारण में अस्तित्व होने से, च=भी यही मानना उचित है।

व्याख्या—कार्य का अस्तित्व कारण में ही होना है, अर्थात् उत्पन्न होने वाली वस्तु अपने उत्पादक में विद्यमान रहती है। इस प्रकार जो है वही प्रकट होगा—असत् से सत् होना संभव नहीं। ऐसे ही काली वस्तु से श्वेत वस्तु नहीं हो सकती, यही बात सब वस्तुओं के विषय में समझनी चाहिए ॥११८॥

न भावे भावयोगश्चेत ॥११९॥

सूत्रार्थ—चेत्=यदि कहो कि, भावे=जो है उसका, भावयोगः=होना, न=नहीं कहना चाहिए।

व्याख्या—यदि कहो कि जो वस्तु सदा विद्यमान रहती है उसका उत्पन्न होना क्यों कहते हो ? जैसे, होने पर यह क्यों कहते हो कि पुत्र उत्पन्न हुआ है, क्योंकि वह पहिले से ही विद्यमान था ? अथवा पुत्र नहीं है तो उसका न होना क्यों मानते हो ? क्योंकि वह अपने कारण में विद्यमान होगा ही ! इस तर्क का उत्तर निम्न सूत्र में दिया गया है ॥११९॥

नाभिव्यक्तिनिबन्धनौ व्यवहाराव्यहारौ ॥१२०॥

सूत्रार्थ-न=ऐसा नहीं है, व्यवहाराव्यवहारौ=व्यवहार अथवा अव्यवहार, अभिव्यक्तिनिबन्धनौ=प्रकट होने की व्यवस्था पर है।

व्याख्या—उपरोक्त तर्क निराधार है, क्योंकि किसी भी कार्य के अस्तित्व का व्यवहार या अव्यवहार उस कार्य की प्रत्यक्षता पर निर्भर है। अर्थात् जब कोई कार्य प्रकट हो जाता है तभी उसका व्यवहार अथवा उपयोग जाना जा सकता है, जब तक वह प्रकट नहीं होता, तब तक उसके विद्यमान होने, न होने का प्रश्न ही नहीं उठता। तिल के भीतर का तेल पेलने से ही प्रकट होगा, पहिले से यह कैसे कहा जा सकता है कि इसमें कितना तेल निकलेगा ? ॥१२०॥

नाशः कारणलयः ॥१२१॥

सूत्रार्थ-कारणलयः=कारण में लीन होना ही, नाशः=नाश कहा गया है।

व्याख्या—यदि कहा जाय कि पदार्थ सदा विद्यमान रहता है, उसका नाश होना कैसे कहते हो ? तो इसका उत्तर यह है कि पदार्थ का अपने कारण में लीन हो जाना अर्थात् जिससे उत्पन्न होता है, उसी में छिप जाने को नाश कहते हैं। परन्तु नाश का तात्पर्य उस पदार्थ के अभाव हो जाने से नहीं है। जो पदार्थ अपने कारण में लीन है, उसके प्रकट होने की अवस्था को ही उत्पन्न होना कहते हैं। इसका भी यह तात्पर्य नहीं है कि जो वस्तु थी ही नहीं, वह उत्पन्न हो गई है ॥१२१॥

पारम्पर्यतोऽन्वेषणा बीजांकुरवत् ॥१२२॥

सूत्रार्थ—पारम्पर्यतः=परम्परा से, बीजांकुरवत्=बीज

में अंकुर, उत्पन्न होने के समान, अन्वेषणा=खोज करनी चाहिए।

व्याख्या—किसी वस्तु के प्रकट होने का विवेचन, उसकी परम्परा के आधार पर होना चाहिए। प्रकट होने के बाद लीन होना और लीन होने के बाद प्रकट होना यही परम्परा से चलने वाला क्रम है। जब कोई वस्तु कारण से प्रकट होकर कार्य रूप में बदल गई, तब उसका जो रूप है, उससे भिन्न रूप उसका हो नहीं सकता। जैसे बीज से अंकुर उत्पन्न होता है, अंकुर से बीज और फिर बीज से अंकुर होता है तो इसमें कारण (उत्पादक) कौन है? यह शंका होने पर पहले जो हुआ, वही कारण हैं, अर्थात् बीज को पहिले उत्पन्न होते देखा गया इसलिए बीज कारण और अंकुर बाद में उत्पन्न होने से कार्य है। इसी परम्परा से सब पदार्थों का निर्णय करना चाहिए ॥१२२॥

उत्पत्तिवद्वाऽदोषः ॥१२३॥

सूत्रार्थ—वा=अथवा, उत्पत्तिवत्=उत्पत्ति के समान ही, अदोषः=दूषित नहीं है।

व्याख्या—कारण में विद्यमान वस्तु जब कार्य रूप में आती है तब उस अवस्था को प्रकट होना कहें या उत्पन्न होना कहें, बात एक ही है। क्योंकि प्रकट होना, उत्पन्न होने के ही समान है इसलिए उत्पन्न हुआ कहने में कोई दोष नहीं है। अब, यह तर्क होता है कि जब सब वस्तुओं की अभिव्यक्ति (प्रकट होना) सम्भव है तब अभिव्यक्ति की भी अभिव्यक्ति होनी चाहिए, इसका उत्तर यह है कि 'प्रकट' शब्द का प्राकड्य भी प्रकट होने का ही रूप है यदि 'प्रकट होना' शब्द की भी उत्पत्ति खोजेंगे तो यहाँ उसकी सङ्गति नहीं बैठेगी ॥१२३॥

हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिंगम् ॥१२४॥

सूत्रार्थ—हेतुमत्=कारण वाला, अनित्य=सदा एक सा न रहने वाला, अव्यापि=एक देशीय, सक्रियम्=क्रिया वाला, अनेकम्=पृथक्-पृथक् प्रतीत होने वाला, आश्रितम्=कारण के अधीन, लिंगम=कार्य-लक्षण वाला है।

व्याख्या—हेतुमान् पदार्थ वह है जो किसी कारण से प्रकट हुआ हो, जो सदा एक जैसा न रहे अथवा नाशवान हो, जो व्यापक न होकर एक स्थानीय हो, जो क्रियावान अर्थात् जिसमें क्रिया होती रहे, जिसके अनेक रूप हों, कार्य का यह लक्षण बताया है। इससे शंका हुई कि यह लक्षण प्रधान के हो सकने हैं। परन्तु प्रधान का तो व्यापक होना कहा है और उसे नित्य माना है, इस प्रकार यह लक्षण प्रधान का नहीं है। दूसरे सांख्य-मत में प्रधान शब्द को प्रचलन में नहीं माना है, इसलिये प्रधान को ईश्वर भी नहीं मान सकते। यह लक्षण प्रकृति के हैं क्योंकि कार्यमात्र की उत्पत्ति प्रकृति से ही मानी गई है और प्रकृति तथा पुरुष के लक्षण में भेद मानने से, प्रकृति से ही पुरुष का अनुमान कर लेना सम्भव नहीं है, कारण वाला कहने से यहाँ कार्य और कारण के भेद की प्रतीति कराई गई है ॥१२४॥

आञ्जस्यादभेदतो वा गुणसामान्यादेस्तत्सिद्धिः प्रधानव्यपदेशाद्वा ॥१२५॥

सूत्रार्थ—आञ्जस्यात्=प्रत्यक्ष से, वा=अथवा, गुण-सामान्यादेः=गुण सामान्य (जाति, स्वभाव) आदि का, अभेदतः =भेद न होने से, वा=अथवा प्रधान यपदेशात्=प्रदान के वर्णन से, तत्सिद्धिः=वैसा होना सिद्ध है।

व्याख्या—प्रत्यक्ष प्रमाण से कार्य और कारण में भेद है अथवा नहीं, यह बात जानी जा सकती है। जैसे मिट्टी कारण और घट कार्य

है, मिट्टी का रूप होते हुए भी घट में आकार-प्रकार की विशेषता दिखाई देती है। यह भेद प्रत्यक्ष दिखाई देता है। जहाँ इस प्रकार का प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं होता, वहाँ अनुमान से कार्य और कारण का भेद जाना जाता है। जैसे वेर के स्वरूप को हम जानते हैं, उसकी जाति के जितने बेर होंगे, सब उसी ढंग से होंगे, क्योंकि उनमें प्रकार-भेद नहीं हो सकता। इसी प्रकार से शब्द प्रमाण से भी कार्य कारण की पुष्टि हो सकती है। श्रुति में प्रकृति और पुरुष के भेद का स्पष्ट वर्णन मिलता है। जगत् का मूल कारण प्रधान, जिसमें जगत् का लय होना बताया गया है, उसका जगत् से अलग रूप में होना कहा गया है। इस प्रकार प्रधान का वर्णन होने से कार्य का कारण से भिन्न होना सिद्ध होता है ॥१२५॥

त्रिगुणाचेतनत्वादि द्वयोः ॥१२६॥

सूत्रार्थ—द्वयोः—कार्य-कारण दोनों में, त्रिगुणाचेतनत्वादि=त्रिगुणात्मकता और अचेतनता आदि धर्म हैं।

व्याख्या—कारण और कार्य दोनों ही सत्व, रज तम इन तीनों गुणों से युक्त और अचेतन होने से समान धर्म वाले हैं। कारण रूप प्रकृति त्रिगुणात्मक, अचेतन, अज्ञानमयी और परिणामी है तथा प्रकृति के सब काय भी वैसे ही हैं। यह सब धर्म चेतन आत्मा के विरुद्ध लक्षण वाले हैं। इस प्रकार कारण और कार्य दोनों का समान लक्षण वाला होना सिद्ध होता है ॥१२६॥

प्रीत्यप्रीतिविषादाद्यैर्गुणानामन्योऽन्यं वैधर्म्यम् ॥१२७॥

सूत्रार्थ=प्रीत्यप्रीतिविषादाद्यैः=प्रीति, अप्रीति, विषाद आदि के भेद से, गुणानाम्=गुणों की, अन्योऽन्यम्=परस्पर, वैधर्म्यम्=विरुद्धता है।

व्याख्या—तीनों गुणों में सतोगुण प्रीति वाला, रजोगुण अप्रसन्नता वाला और तमोगुण विषाद वाला है, इस प्रकार यह तीनों गुण परस्पर विरुद्ध धर्म वाले हैं। परन्तु सूत्रकार ने 'आदि' शब्द लगाकर इन गुणों के अन्य धर्मों का भी संकेत किया है। यद्यपि, इनके मुख्य धर्म तो उपरोक्त ही माने गये हैं, किन्तु इनमें अन्य विशेषतायें भी हैं, जैसे कि प्रसन्नता, हलकापन, सङ्ग, प्रीति, क्षमा, संतोष सुख आदि धर्म सतोगुण के तथा अप्रीति, अप्रसन्नता, शोक, तृष्णा, ईर्ष्या, दुःख आदि धर्म रजोगुण के और निद्रा, आलस्य, मोह आदि धर्म तमोगुण के हैं। इनमें से एक के धर्म दूसरे में न होने से इन्हें विरुद्ध धर्म वाला कहा गया है ॥१२७॥

लघ्वादिधर्मैः साधर्म्यं वैधर्म्यं च गुणानाम् ॥१२८॥

सूत्रार्थ—लघ्वादि धर्मैः=हलकापन आदि धर्मों से, गुणानाम्=गुणों का, साधर्म्यम्=समान धर्म होना, च=और, वैधर्म्यं=विरुद्ध धर्म होना, दोनों ही हैं।

व्याख्या—लघु आदि धर्म वाले व्यक्ति सब समान हैं, रजोगुण तमोगुण वालों से इनके लक्षण नहीं मिलते इसलिए विरुद्ध धर्म वाले भी हैं। इसी प्रकार चंचलता आदि के धर्म वाले जितने व्यक्ति हैं, वे सब रजोगुणी हैं, वे एक से धर्म वाले होने से समानधर्मी हैं, और तमोगुण के धर्म वाले सब व्यक्ति तमोगुणी हैं। इसी प्रकार सबका विवेचन करना चाहिए ॥१२८॥

उभयान्यत्वात् कार्यत्वं महदादेर्घटादिवत् ॥१२९॥

सूत्रार्थ—उभयान्यत्वात्=दोनों से भिन्न होने के कारण, महदादेः=महत्तत्व आदि का, घटादिवत्=घड़े आदि के समान, कार्यत्वम्=कार्य होना सिद्ध होता है।

व्याख्या—पुरुष और प्रकृति इन दो को ही प्रारम्भ में माना है। पुरुष चेतन और प्रकृति अचेतन है, किन्तु इनका कोई और उत्पन्न करने वाला न होने से वे नाशवान् नहीं हैं। इन दोनों से भिन्न जो महत्तत्व आदि पदार्थ हैं वे घड़े आदि दिखाई पड़ने वाले पदार्थों के समान प्रकृति के कार्य हैं। इस प्रकार कार्य और कारण का भेद स्पष्ट सिद्ध होता है ॥१२९॥

परिमाणात् ॥१३०॥

सूत्रार्थ--परिमाणात्=परिमाण से भी यह मान्यता ठीक है।

व्याख्या--महत्तत्व आदि परिमित (एक देशीय) होने से कार्य जो उनसे उत्पन्न होने वाले हैं, कभी एक से नहीं रहते। इसलिए अनित्य हैं, क्योंकि परिमित पदार्थ ही नाशवान् होते हैं, कारण नाशवान् नहीं होता ॥१३०॥

समन्वयात् ॥१३१॥

सूत्रार्थ-समन्वयात्=समन्वय से भी यही सिद्ध होता है।

व्याख्या— भिन्न-भिन्न पदार्थ यदि समान धर्म वाले हों तो समन्वय कहा जायगा। जैसे अलग-अलग आकृति के खिलौने एक ही मिट्टी से बने होने के कारण मिट्टी ही हैं, यह उनका 'समन्वयत्व' हुआ। इसी प्रकार बुद्धि आदि जो महत्तत्वों के अन्तर्गत हैं, उन सबसे समान रूपता पाई जाने से, उन्हें तीन गुणों का विकार समझना चाहिये। इस प्रकार महत्तत्व आदि कार्य रूप सिद्ध होते हैं ॥१३१॥

शक्तितश्चेति ॥१३२॥

सूत्रार्थ—शक्तितः=शक्ति से, च=भी, इति=ऐसी ही मान्यता है।

व्याख्या—शक्ति का धर्म साधन, योग्यता अथवा कारण है। 'कारण' का अर्थ क्रिया अथवा हेतु भी है। जीव के लिए महत्तत्व भोग

आदि प्रकट करने में मुख्य साधन है। जैसे नेत्र आदि दिखाई देने के कार्य से कार्य रूप हैं, वैसे ही महदादि भी कार्य रूप हैं और प्रत्येक कार्य अपने कारण रूप से उत्पन्न होता है और उसकी शक्ति अपने कारण से सीमित होती है। अब इसे स्पष्ट समझिये कि नेत्र के बिना मनुष्य में देखने की शक्ति नहीं हो सकती और आत्मा के बिना नेत्र भी नहीं देख सकते। इस प्रकार नेत्र रूपी कारण के बिना देखना रूप क्रिया नहीं हो सकती, वैसे ही महदादि के बिना सृष्टि की उत्पत्ति नहीं हो सकती, इससे सिद्ध होता है कि महदादि पदार्थ भी कार्य रूप हैं।

तद्धाने प्रकृतिः पुरुषो वा ।।१३३।।

सूत्रार्थ—तद्धाने=उसकी हानि में (अर्थात् ऐसा न मानने में), प्रकृतिः=वह प्रकृति है, वा=अथवा, पुरुषः=पुरुष है।

व्याख्या—महदादि को यदि कार्य न मानें तो उन्हें प्रकृति मानना पड़ेगा या पुरुष मानना पड़ेगा, क्योंकि उनके कार्य न होने पर परिणामी मानें तो उन्हें प्रकृति समझना होगा और यदि अपरिणामी (अर्थात् जिनसे कोई फल न निकले) मानें तो उन्हें पुरुष मानना होगा। किन्तु, पुरुष चेतन है और महदादि तत्व अचेतन हैं, इसलिए वे पुरुष नहीं हो सकते, उधर प्रकृति की जो स्थिति बताई जा चुकी है, वह स्थिति महदादि की नहीं है, इसलिए वे प्रकृति भी नहीं है, क्योंकि महदादि नाशवान हैं और प्रकृति अविनाशी हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि महदादि पदार्थं कार्य रूप नाशवान् हैं ।।१३३।।

तयोरन्यत्वे तुच्छत्वम् ।।१३४।।

सूत्रार्थ—तयोः=उनसे, अन्यत्वे=भिन्न होने पर, तुच्छत्वम्=महदादि तुच्छ समझे जायेंगे।

व्याख्या—लोक में प्रकृति और पुरुष दो को ही वस्तु माना

हैं, शेष सब पदार्थ अवस्तु कहे गए हैं। इसलिए महदादि को प्रकृति का कार्य मानना चाहिए। यदि प्रकृति और पुरुष से भिन्न मानें और कार्यरूप भी न मानें तो महदादि में तुच्छता का भाव मानना पड़ेगा, परन्तु, उसका अस्तित्व है, इसलिए उन्हें तुच्छ न मान कर कार्य रूप मानना ही ठीक है ॥१३४॥

कार्यात् कारणानुमानं तत्साहित्यात् ॥१३५॥

सूत्रार्थ—कार्यात्=कार्य से, कारणानुमानम्=कारण का अनुमान, तत्साहित्यात्=उसके कार्य—साहित्य से करना चाहिए।

व्याख्या—कार्य द्वारा कारण का अनुमान होने को कार्य-साहित्य कहते हैं अर्थात् जहाँ कार्य से कारण की जानकारी हो वह कार्य-साहित्य है। जैसे कि तिल में रहने वाले तेल रूप कार्य का उत्पन्न करने वाला (उपादान कारण) तिल है, वैसे ही महदादि भी अपने कार्यों के उपादान कारण हैं ॥१३५॥

अव्यक्तं त्रिगुणाल्लिङ्गात् ॥१३६॥

सूत्रार्थ—त्रिगुणाल्लिङ्गात्=तीन गुणों वाले लक्षण होने से, अव्यक्तम्=प्रकृति का अनुमान होता है।

व्याख्या—कार्य के कारण में लय होने वाली परम्परा का अन्तिम कार्य 'महत्तत्व' है। इसमें सत्व रजस् और तमस् इन तीनों गुणों के परिणाम रूप, सुख, दुःख मोह हैं। और सम्पूर्ण विश्व जब अपने कारण में लीन होता है, तब वह महत्तत्व में समा जाता है। यह त्रिगुणात्मक महत्तत्व दिखाई पड़ने वाला है, इससे त्रिगुणात्मक तथा दिखाई न पड़ने वाली मूल प्रकृति का अनुमान होता है, क्योंकि प्रकट वस्तु ही अपने कार्य रूप में बदलती है। यदि प्रकृति भी प्रकट होती तो वह मूल कारण नहीं हो सकती थी। इस प्रकार महत्तत्व के त्रिगु-

णात्मक होने से प्रकृति का भी त्रिगुणात्मक होना सिद्ध होता है ॥१३६॥

तत्कार्यतस्तत्सिद्धेर्नापलापः ॥१३७॥

सूत्रार्थ=तत्=उसके, कार्यतः=कार्यों से, तत्सिद्धेः=उसकी सिद्धि होती है, इसलिए यह, अपलापः=मिथ्यावाद, न=नहीं है।

व्याख्या—प्रकृति के कार्य महत्तत्व आदि हैं, उनके सिद्ध होने से प्रकृति की भी सिद्धि हो जाती है। इसमें प्रकृति का न होना किसी प्रकार नहीं माना जा सकता, इसलिए उपरोक्त कथन को मिथ्या नहीं कह सकते ॥१३७॥

सामान्येन विवादाभावाद्धर्मवन्न साधनम् ॥१३८॥

सूत्रार्थ—सामान्येन=(चेतन के सम्बन्ध में) सामान्य से, विवादाभावाद्=विवाद का अभाव होने से, धर्मवत्=धर्म के समान, साधनम्=साधन, न=नहीं है।

व्याख्या—जिस वस्तु की मान्यता में साधारण रूप से कोई विवाद नहीं है, तब उस वस्तु का अस्तित्व मानने के लिए किसी विशेष तर्क की आवश्यकता नहीं होती। जैसे कर्म के सम्बन्ध में कोई विवाद नहीं है, सभी विद्वान् चार वर्ण और चार आश्रमों को समान रूप से स्वीकार करते हैं, परन्तु, प्रकृति के सम्बन्ध में साधारण रूप से ही विवाद है और उसे सिद्ध करने के लिए विशेष साधनों की आवश्यकता होती है, उस प्रकार का कोई विवाद 'चेतन' की मान्यता में नहीं है। इसलिए उसे सिद्ध करने के लिए विशेष प्रमाणों की आवश्यकता नहीं है ॥१३८॥

शरीरादिव्यतिरिक्तः पुमान् ॥१३९॥

सूत्रार्थ—पुमान्=पुरुष, शरीरादिव्यतिरिक्तः=शरीर आदि से भिन्न है।

व्याख्या—चेतन आत्मा जगत् के सब अचेतन तत्वों से भिन्न है। मूल रूप से दो ही तत्व हैं 'चेतन' और 'अचेतन' सम्पूर्ण जगत् अचेतन है, किन्तु, जीवात्मा और परमात्मा चेतन हैं। यहाँ, शरीर आदि से भिन्न कहा जाने से जीवात्मा के सम्बन्ध में ही, इस सूत्र में कहा गया है, क्योंकि जीवात्मा इन्द्रियों युक्त शरीर में स्थित रहता हुआ भी वह शरीर आदि से अलग रूप वाला ही है।

संहतपरार्थत्वात ।।१४०।।

सूत्रार्थ--संहत=संघात, परार्थत्वात्=परार्थ के लिए है, इससे भी यही सिद्ध होता है।

व्याख्या—संघात के सम्बन्ध में पहिले कहा जा चुका है। उसका संघात रूप में जितने अचेतन तत्व समुदाय है, उन सब की प्रवृत्ति परार्थ अर्थात् दूसरे के लिए होती है। वह दूसरा कौन है? संघात से विरुद्ध लक्षण वाला तथा संघात का उपभोग करने वाला जीवात्मा ही दूसरा है। यदि भोक्ता आत्मा का अस्तित्व न माने तो जगत् और उसके सम्पूर्ण अचेतन पदार्थ व्यर्थ सिद्ध होंगे। इससे सिद्ध होता है कि संघात से भिन्न जो जीवात्मा है, उसका अस्तित्व भोक्ता रूप से है ।।१४०।।

त्रिगुणादिविपर्ययात् ।।१४१।।

सूत्रार्थ--त्रिगुणादि=तीन गुण आदि के, विपर्ययात्=विपरीत होने से यही मान्यता ठीक है।

व्याख्या—सत्व, रजस्, तमस् इन तीनों गुण वाले जो पदार्थ हैं, वे सभी अचेतन अर्थात् जड़ हैं, जीवात्मा इन त्रिगुणात्मक पदार्थों से बिलकुल भिन्न और गुण रहित है। क्योंकि गुण वाले जितने पदार्थ हैं वे सब नाशवान् हैं और जीवात्मा नाशवान् नहीं है, इससे भी जीवात्मा को प्रकृति से भिन्न चेतन तत्व कहा गया है ।।१४१।।

अधिष्ठानाच्चेति ॥१४२॥

सूत्रार्थ—च=और, अधिष्ठानात्=शरीर का अधिष्ठाता होने से भी, इति=यही मानना चाहिए।

व्याख्या—जैसे रथ में बैठने वाला रथ के गुणों से भिन्न होता है, परन्तु रथ से उसका सम्बन्ध होने से वह उसका अधिष्ठाता माना जाता है, वैसे ही शरीर में निवास करने के कारण, जीवात्मा उसका अधिष्ठाता होता है, परन्तु, शरीर के धर्मों से उसकी स्थिति में कोई अन्तर नहीं आता। यहाँ भी शरीर में अधिष्ठान करने वाला कहने से जीवात्मा के लिए ही इस सूत्र में संकेत है, परमात्मा सम्पूर्ण जगत् का अधिष्ठाता है और जीव तथा परमात्मा दोनों ही चेतन हैं उनका अस्तित्व भी इन कारणों से स्पष्ट सिद्ध होता है ॥१४२॥

भोक्तृभावात् ॥१४३॥

सूत्रार्थ—भोक्तृभावात्—भोक्ता होने से भी ऐसा मानना ठीक ही है।

व्याख्या—जगत् के सम्पूर्ण जड़ पदार्थ जीवात्मा के भोग के लिये ही हैं, और उन सबका उपभोग करने वाला होने से जीवात्मा भोक्ता है। क्योंकि जड़ पदार्थों का उपभोग कोई जड़ पदार्थ नहीं कर सकता, चेतन ही अचेतन पदार्थों का भोग कर सकता है तथा सांख्य मत में चेतन को ही भोक्ता कहा गया है। इससे भोक्ता होने के कारण जीवात्मा का चेतन होना ही सिद्ध होता है ॥१४३॥

कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ॥१४४॥

सूत्रार्थ—च=और, कैवल्यार्थम्=मुक्त होने के लिये, प्रवृत्तेः=प्रवृत्त होने के कारण भी इसकी सिद्धि होती है।

व्याख्या—कैवल्य अर्थात् 'मोक्ष' प्राप्ति की इच्छा जीवात्मा में

पाई जाती है और वह उसकी प्राप्ति के लिये प्रयत्न भी करता है क्योंकि 'मोक्ष' को ही परम पुरुषार्थ माना गया है। इस प्रकार, मोक्ष-प्राप्ति का प्रयत्न चेतन आत्मा द्वारा ही किया जा सकता है, कोई जड़ पदार्थ इसकी प्राप्ति के लिए प्रवृत्त हो ही नहीं सकता। दुःख, सुख की अनुभूति शरीर को तो होती नहीं, क्योंकि वह जड़ है। शरीर के कर्म से दुःख सुख होने पर भी उसकी अनुभूति जीवात्मा को ही होती है, इसलिए वह दुःख-सुख से छुटकारा पाने के लिए मोक्ष-प्राप्ति के कार्य में प्रवृत्त होता है। इसी से अचेतन प्रकृति से भिन्न, चेतन आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है ॥१४४॥

जडप्रकाशायोगात् प्रकाशः ॥१४५॥

सूत्रार्थ—जड=अचेतन का, प्रकाश=आत्मा से, आयोगात्=मेल न होने से, प्रकाश=चेतन की सिद्धि होती है।

व्याख्या—अचेतन पदार्थ चेतन पदार्थ में मिलते नहीं अर्थात् वैसा ही रूप नहीं पाते, इसलिए चेतन अलग ही दिखाई देता है। शरीर में स्थित रहने वाला आत्मा, शरीर से अलग दिखाई देता है, क्योंकि मरण काल में जब आत्मा शरीर से निकल जाता है, तब शरीर मिट्टी के पुतले के समान चेतना-हीन पड़ा रहता है, उसमें हिलने-डुलने, बोलने आदि की कोई क्रिया नहीं होती। तब सभी समझ लेते हैं कि इस जड़ शरीर में से चेतन आत्मा निकल गया है। इस प्रकार अचेतन शरीर से अलग रूप वाले आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है ॥१४५॥

निर्गुणत्वान्न चिद्धर्मा ॥१४६॥

सूत्रार्थ—निर्गुणत्वात्=निर्गुण होने से, चिद्धर्मा=चित् धर्म वाला, न=नहीं।

व्याख्या—सत्व, रजस्, तमस् यह तीन गुण माने गए हैं,

इन गुणों में धर्म-धर्मी भाव माना गया है अर्थात् गुणों में लक्षण और लक्षण वाला कहकर कार्य और कारण की भिन्नता-अभिन्नता बताई गई है। जैसे सत्वगुण का लक्षण सुख हुआ और इस लक्षण वाला व्यक्ति सुखी कहा जायगा, वैसे ही, आत्मा में गुणों के न होने से वह चेतन तो है, परन्तु चिद्धर्म अर्थात् चेतनता का आभास मात्र नहीं है यानी उसमें दिखावटी चेतनता नहीं है, यथार्थ है ॥१४६॥

श्रुत्या सिद्धस्य नापलापस्तत्प्रत्यक्षबाधाद् ॥१४७॥

सूत्रार्थ—श्रुत्या=श्रुति से, **सिद्धस्य**=सिद्ध होने की, **तत्**=उसकी, **प्रत्यक्षबाधात्**=स्पष्ट बाधा होने से, **अपलापः**=निन्दा, **न**=नहीं है।

व्याख्या—आत्मा निर्गुण है, यह बात केवल कल्पना नहीं है, किन्तु, श्रुति प्रमाण से भी सिद्ध है। वृहदारण्यक श्रुति (६-३-१५) "असंगोह्यऽयंपुरुष" अर्थात् 'यह पुरुष संग-रहित' (निर्गुण) है अथवा "साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च" अर्थात् 'आत्मा साक्षी, चेतन और निर्गुण मात्र है' उसके सम्बन्ध में धर्म-धर्मी भेद अर्थात् 'मैं हूँ' ऐसा आभास अविवेक के-कारण है। इस आभास से आत्मा के निर्गुण अथवा चेतन होने वाली बात का विरोध सिद्ध नहीं होता है ॥१४७॥

सुषुप्त्याद्यसाक्षित्वम् ॥१४८॥

सूत्रार्थ—सुषुप्त्याद्य=सुषुप्ति आदि अवस्था का, **साक्षित्वम्**=आत्मा साक्षी है।

व्याख्या—सुषुप्ति आदि जो अवस्थायें हैं, वे अन्तःकरण की वृत्ति बताई गई हैं, इनका आधार बुद्धि है, जीवात्मा तो साक्षी अर्थात् देखने वाला ही है। कोई भी बाहरी विषय जब बुद्धि के पास पहुँचता है तभी बुद्धि उन विषय के आकार वाली हो जाती है। इसी को बुद्धि की

वृत्ति कहते हैं और जब बुद्धि उस विषय को आत्मा से पास पहुँचाती है, तब आत्मा को उस बाहरी विषय का अनुभव होता है और उस अनुभव के कारण ही आत्मा को साक्षी कहा है ॥१४८॥

जन्मादिव्यवस्थातः पुरुषबहुत्वम् ॥१४९॥

सूत्रार्थ—जन्मादिव्यवस्थातः=जन्म-मरण की व्यवस्था होने के कारण, पुरुषबहुत्वम्=जीवात्मा का बहुत होना सिद्ध है।

व्याख्या—जीवात्मा को सांख्य मत में एक नहीं, अनेक माना है, क्योंकि जन्म-मरण की व्यवस्था होने के कारण वह अनेक रूप वाला होता है। जैसे एक जन्म लेता, दूसरा मरता है, तीसरा दुःख भोगता है, चौथा सुखी है। अथवा कोई मनुष्य है तो कोई पशु है, इस प्रकार विविध रूप में आत्मा की स्थिति देखी जाती है। यदि आत्मा एक रूप ही होता और उसमें विविधता न होती तो सबका जन्म साथ-साथ होता सब साथ-साथ मरते, साथ ही दुःख-सुख का भोग करते और पशु योनि या मनुष्य योनि आदि का भी प्रश्न नहीं उठता। इससे आत्मा का 'बहुत्व' सिद्ध होता है ॥१४९॥

उपाधिभेदेऽप्येकस्य नानायोग आकाशस्येव घटादिभिः ॥१५०॥

सूत्रार्थ—उपाधिभेदे=शरीर आदि का भेद होने पर, अपि=भी, एकस्य=एक का, आकाशस्य=आकाश का, घटादिभिः=घड़ा आदि से योग होने के, इव=समान, नानायोगः अनेक शरीरों से संयोग होता है।

व्याख्या—यहाँ घड़े और आकाश का उदाहरण दिया है। जैसे एक घड़ा है, वह टूट जाता है, तो दूसरा उसका स्थान ले लेता है,

इस प्रकार आकाश के नीचे अनेक घड़े हैं। परन्तु घड़े बदलते रहते हैं. आकाश नहीं बदलता, वैसे ही आत्मा अनेक शरीरों से संयोग रखता है अर्थात् अनेक देहों में जन्म ले-लेकर मरता है। इस प्रकार शरीर तो बदल जाते हैं किन्तु आत्मा एक ही रहता है, उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता। वह कभी घटता, बढ़ता नहीं, कटता, फटता या टूटता नहीं और न कभी नया पुराना ही होता है ॥१५०॥

उपाधिर्भिद्यते न तु तद्वान् ॥१५१॥

सूत्रार्थ—उपाधिर्भिद्यते=उपाधि अर्थात् शरीर में भिन्नता होती है, तु=किन्तु, तद्वान्=उस आत्मा में, न=भिन्नता नहीं होती।

व्याख्या—शरीर के बहुत से रूप होते हैं, परन्तु उन शरीरों का धारण करने वाला आत्मा एक रूप ही रहता है। शरीर नाशवान् है इसीलिए वह जन्म लेता और मरता है, परन्तु जीवात्मा नित्य होने से कभी मरता नहीं। अनेक शरीरों के बदलते रहने पर भी आत्मा उनमें एक रहता हुआ ही वर्तता है। इससे सिद्ध हुआ कि मरण काल में शरीर ही नष्ट होता है, आत्मा कभी नहीं मरता ॥१५१॥

एकमेकत्वेन परिवर्तमानस्य न विरुद्धधर्माध्यासः ॥१५२॥

सूत्रार्थ—एवम्=इस प्रकार, एकत्वेन=आत्मा के एक होने से परिवर्तमानस्य=परिवर्तित होने वाले कार्य के सङ्गत होने पर भी, विरुद्ध धर्माध्यासः=विरुद्ध धर्मों का आभास, न=नहीं होता।

व्याख्या—यदि परिवर्तनशील देह-धर्म से आत्मा की संगति की जाय तो भी आत्मा के एक देशीय न होने से उसका मरण सिद्ध नहीं होता। क्योंकि, आत्मा तो चेतन है और चेतन तत्व अविनाशी

होने से कभी मरता नहीं है, जन्म-मरण तो अचेतन और परिच्छिन्न अर्थात् शरीर आदि जड़ पदार्थों का ही सम्भव है ॥१५२॥

अन्यधर्मत्वेऽपि नारोपात्तत्सिद्धिरेकत्वात् ॥१५३॥

सूत्रार्थ अन्यधर्मत्वे=अन्य का धर्म होने पर, अपि=भी, एकत्वात्=आत्मा के एक होने के कारण, आरोपात्=आरोप से, तत्सिद्धि=उस अवस्था की सिद्धि, न=नहीं होती।

व्याख्या—मन आदि इन्द्रियों के जो धर्म है, उनको आत्मा में आरोपित करने अर्थात् आत्मा का धर्म मान लेने पर भी उस आरोप की सिद्धि नहीं होती, क्योंकि सुख-दुःख आदि इन्द्रियों के धर्म चेतन में नहीं हो सकते। एक ही आत्मा अनेक शरीरों में जन्मान्तर भेद से बना रहता है। यदि प्रत्येक जन्म में पृथक्-पृथक् आत्मा होती तो आत्मा भी जन्म मरण धर्म वाली मानी जाती और तब आत्मा को अविनाशी कहने वाली श्रुति से विरोध प्रसङ्ग उपस्थित होता है ॥१५३॥

नाद्वैतश्रुतिविरोधी जातिपरत्वात् ॥१५४॥

सूत्रार्थ—जातिपरत्वात्=जातिपरक होने के कारण, अद्वैतश्रुतिविरोधी=अद्वैतवाद का समर्थन करने वाली श्रुति के साथ, न=विरोध नहीं होगा।

व्याख्या—आत्मा का एक होना मानने से "एकमेवाद्वितीयं-ब्रह्म" इत्यादि अद्वैतवाद का प्रतिपादन करने वाली श्रुति से भी विरोध नहीं होगा और जहाँ आत्मा और परमात्मा का भेद मानने की बात आती है, वहाँ आत्मा और परमात्मा दोनों ही चेतन होने से एक जाति हैं, इस प्रकार भी अद्वैत प्रतिपादन करने वाली श्रुतियों से विरुद्ध सिद्ध नहीं होगा।

विदितबन्धकारणस्य दृष्ट्या तद्रूपम् ।।१५५।।

सूत्रार्थ—विदितबन्धकारणस्य=बन्धन के कारण को जान लेने वाले की, दृष्ट्या=दृष्टि से, तद्रूपम्=वह उसी रूप का हो जाता है।

व्याख्या—जो पुरुष आत्म-ज्ञान पाकर बन्धन के कारण को जान लेते हैं, उस ज्ञानी पुरुषों से आत्मा का ज्ञान प्राप्त करके अर्थात् स्वयं ज्ञानी होकर अन्त में आत्म-रूप प्राप्त कर लेता है। इस सूत्र का एक अर्थ यह भी है कि जीवात्मा के बन्धन के सब कारण जानने पर साधक आत्म-साक्षात्कार द्वारा ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करता है ।।१५५।।

नान्धादृष्टया चक्षुष्मतामनुपलम्भः ।।१५६।।

सूत्रार्थ—अन्ध-अदृष्टया=अन्धे के द्वारा दिखाई न पड़ने से, चक्षुष्मनाम्=नेत्र वालों का, अनुपलम्भः=न देखा जाना, न=सिद्ध नहीं होता।

व्याख्या—जब अन्धे को कोई वस्तु दिखाई नहीं देती, तो उससे नेत्र वालों को भी वह वस्तु दिखाई न दे, यह कैसे माना जा सकता है? विषयों में पड़े हुए मनुष्य आत्मा के समान चेतनता को नहीं जान पाते, तो उससे यह कैसे सिद्ध हो सकता है कि तत्त्वज्ञानी पुरुष भी इस बात को नहीं जानते। इस प्रकार सबके ज्ञान की समानता न होने से आत्माओं की समान चेतनता का होना सिद्ध होता है ।।१५६।।

वामदेवादिर्मुक्तो नाद्वैतम ।।१५७।।

सूत्रार्थ—वामदेवादि=वामदेव आदि, मुक्तः=मोक्ष को प्राप्त हुए, इस प्रकार, अद्वैतम्=एक आत्मा का ही होना, न=सिद्ध नहीं होता।

व्याख्या—वामदेव आदि ऋषि मुक्त हो चुके हैं, यदि आत्मा एक ही होता तो मुक्त होने वालों के साथ सभी मुक्त हो गये होते, कोई भी बन्धन में पड़ा न रहता। एक आत्मा के मुक्त होते ही, संसार के सभी जीव मुक्त हो जाते। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि आत्मा एक नहीं है, ब्रह्म अलग है और जीवात्मायें अलग-अलग हैं और अद्वैत की सिद्धि नहीं होती है ॥१५७॥

अनादावद्य यावदभावाद् भविष्यदप्येवम् ॥१५८॥

सूत्रार्थ—अनादौ=अनादि काल से, अद्य यावत्=अब तक, अभावात्=अभाव होने से, भविष्यत्=भविष्य में, अपि=भी, एवम्=इसी प्रकार होगा।

व्याख्या—अनादि काल से अब तक जो कार्य न हुआ वह भविष्य में भी नहीं होगा। मोक्ष को प्राप्त हुए व्यक्तियों के मुक्त होते-होते पूरा संसार आज तक खाली नहीं हुआ, ऐसे ही आगे भी खाली नहीं होगा। क्योंकि मुक्ति से संसार में फिर लौटने की व्यवस्था है, इस प्रकार ससार से जीवात्माओं का कभी अन्त न होगा ॥१५८॥

इदानीमिव सर्वत्र नात्यन्तोच्छेदः ॥१५९॥

सूत्रार्थ—इदानीम्-इव=वर्तमान समय के समान, सर्वत्र =सभी काल में, अत्यन्तोच्छेदः=अत्यन्त विनाश, न=नहीं होता।

व्याख्या—जैसा इस समय तक रहा है, वैसे ही, किसी भी समय संसार का अत्यन्त विनाश नहीं होता। यह सूत्र मुक्त पुरुषों के सम्बन्ध में भी लिया जा सकता है। तब इसका अर्थ यह बनेगा कि मुक्ति आत्मा का स्वभाव नहीं है, बल्कि वह एक अवस्था विशेष है, जो कि एक नियत समय तक ही रह सकती है। उस अवस्था की अवधि समाप्त

होने पर आत्मा को इस लोक में आना होता है। इस प्रकार अनादि और अनन्त अर्थात् जिसका आदि अन्त नहीं, ऐसी आत्मा संसार के प्रवाह में गतिमान रहती है ॥१५९॥

व्यावृत्तोभयरूपः ॥१६०॥

सूत्रार्थ—उभयरूपः=दोनों रूपों से, व्यावृत=निवृत है।

व्याख्या—संसार का लीन होना या वर्तमान रूप में अवस्थित रहना, इन दोनों रूपों से निवृत्त एक ईश्वर ही है, उससे भिन्न जीवात्माऐं अनेक रूप वाली होकर संसार में स्थिर रहती हैं, उन आत्माओं के मोक्ष की अवस्था में जाने पर भी संसार जीवात्माओं से कभी शून्य नहीं रहता, इसमें आने-जाने का चक्र बराबर चलता रहता है ॥१६०॥

साक्षात्सम्बन्धात् साक्षित्वम् ॥१६१॥

सूत्रार्थ—साक्षात्-सम्बन्धात्=साक्षात् सम्बन्ध के कारण ही जीवात्मा का, साक्षित्वम्=साक्षीपन है।

व्याख्या—बुद्धि आदि इन्द्रियों से सीधा सम्बन्ध होने से आत्मा को 'साक्षी' कहा जाता है। स्वभाव से आत्मा का स्वरूप 'साक्षी' होना नहीं माना जाता। परन्तु, बुद्धि आदि के साथ आत्मा का सम्बन्ध अविवेक से ही होता है, जब ज्ञान प्राप्त हो जाता है, तब अविवेक दूर हो जाता है। ज्ञान होने पर आत्मा का साक्षीपन मोक्ष में बाधा नहीं डालता ॥१६१॥

नित्यमुक्तत्वम् ॥१६२॥

सूत्रार्थ—नित्य=नित्य अर्थात् नष्ट होने न वाले का ही, मुक्तत्वम्=मुक्त होना मान्य है।

व्याख्या—आत्मा नित्य है, वह कभी नष्ट नहीं होता, निर्गुण और चेतन भी है, जिसमें ऐसे गुण हैं, वही मुक्त हो सकता है। जड़

पदार्थ नाशवान् हैं, उन्हें दुःख-सुख की अनुभूति नहीं होती, उनका मुक्त होने का प्रश्न नहीं उठता। क्योंकि, जड़ पदार्थ नष्ट होने पर समाप्त होते हैं, परन्तु आत्मा देह को छोड़कर पुनर्जन्म धारण करता है या मुक्त हो जाता है ॥१६२॥

औदासीन्यं चेति ॥१६३॥

सूत्रार्थ--च=और, इति=इस प्रकार, औदासीन्यं= उदासीन होना भी जीवात्मा का धर्म है।

व्याख्या—उदासीन होने से तात्पर्य कर्म का न करना है। पूर्व सूत्रों में परिणामी और अपरिणामी विवेचन करते हुए कह चुके हैं कि सभी जड़ पदार्थ अपरिणामी अर्थात् परिणाम वाले और चेतन तत्व अपरिणामी अर्थात् विना परिणाम वाला कहा है। अपरिणामी को अकर्त्ता भी कहते हैं, इस प्रकार आत्मा के अपरिणामी स्वरूप को जीवात्मा का धर्म कहा है। जितने अपरिणामी तत्व हैं वे नाशवान नहीं हैं, इससे जीवात्मा का अमर होना भी कहा गया है ॥१६३॥

उपरागात्कर्त्तृत्वं चित्सान्निध्याच्चित्सान्निध्यात्॥१६४॥

सूत्रार्थ—चित्-सान्निध्यात्=चेतन का संयोग होने से, उपरागात्=उपराग से, कर्त्तृव्यम्=कर्त्तव्य है।

व्याख्या—इन्द्रियों के सम्पर्क में आने पर आत्मा विषय भोगों को कर्त्तव्य समझने लगता है, परन्तु विषयों से आत्मा का संयोग अविवेक के कारण है, और इसी से आत्मा का कर्त्तापन माना जाता है, क्योंकि इन्द्रिय आदि अचेतन पदार्थ आत्मा के संयोग से ही कर्म करने में समर्थ हो सकते हैं। इस सूत्र में 'चित्सान्निध्यात्' दो बार कहा गया है, उसे अध्याय की समाप्ति का सूचक समझना चाहिये ॥१६४॥

॥ प्रथम अध्याय समाप्त ॥

द्वितीयोऽध्यायः

विमुक्तमोक्षार्थं स्वार्थं वा प्रधानस्य ॥१॥

सूत्रार्थ—विमुक्त=विमुक्त आत्मा के, मोक्षार्थम्=मोक्ष के लिए, वा=अथवा, स्वार्थम्=भोग के लिए, प्रधानस्य=प्रधान की प्रवृत्ति कही गयी है।

व्याख्या—प्रकृति के सम्पर्क में रहकर भी आत्मा उससे बिल्कुल अलग है, इसीलिए, उसे विमुक्त कहा गया है। प्रकृति के सम्पर्क से ही उसका विवेक नष्ट हो जाता है और वह अपने चेतन रूप को भूल कर, अपने को अचेतन मानने लगता है, उसका अविवेक दूर करने और मोक्ष प्राप्त कराने के लिये प्रधान अर्थात् प्रकृति की प्रवृत्ति होती है। इसी प्रकार आत्मा के लिये भोग पदार्थ प्राप्त कराने के लिये भी प्रधान की प्रवृत्ति कही गई है। इससे सिद्ध होता है कि भोग और मोक्ष दोनों की ही प्राप्ति में प्रकृति की प्रवृत्ति आवश्यक है। उसके बिना कोई कार्य पूरा नहीं हो सकता ॥१॥

विरक्तस्य तत्सिद्धेः ॥२॥

सूत्रार्थ—विरक्तस्य=विरक्त पुरुषों को ही, तत्=उस मोक्ष की, सिद्धेः=सिद्धि हो सकती है।

व्याख्या—विषयों का भोग करते रहने से मोक्ष की प्राप्ति

कभी नहीं हो सकती। जब सांसारिक भोगों का व्यर्थ होना समझ में आ जाय और उन भोगों का त्यागकर आत्मा शुद्ध चित्त और वैराग्य-मय हो जाय, तभी मोक्ष के लिए प्रयत्न करने पर उसकी प्राप्ति हो सकती है। इस प्रकार विरक्त को मोक्ष हो जाने के कारण सृष्टि की बारम्बार उत्पत्ति होती है, क्योंकि सृष्टि के उत्पन्न होने पर ही भोग और मोक्ष दानों की प्राप्ति हो सकती है ॥२॥

न श्रवणमात्रात्त् तत्सिद्धिरनादिवासनाया बलवत्वात् ॥३॥

सूत्रार्थ—श्रवणमात्रात्=सुन लेनें मात्र से ही, अनादि वासनाया:=वासना आदि होने के कारण, बलवत्वात्=बल-वान है इसलिये, तत्सिद्धि=वैराग्य की, सिद्धि, न=नहीं हो सकती।

व्याख्या—प्रथम तो ऐसे प्रवचनों का सुनना ही कठिन है, जिनसे कि आत्म-ज्ञान और वैराग्य की उत्पत्ति हो सकती है, क्योंकि विषय वासना में फँसे हुए मनुष्य का वैसे उपदेश में मन नहीं लगता। यदि किसी प्रकार सुन भी ले तो उसके सुन लेने से ही वैराग्य की प्राप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि आत्मा अनादि काल से बलवती वासनाओं से लिप्त चला आ रहा है और वे वासनायें आत्मा का पीछा नहीं छोड़ती। उनकी असारता की बात जान लेने पर भी उन्हीं की ओर बारम्बार दौड़ता और चक्कर में फँस जाता है। इसलिए वैराग्य की सिद्धि निरन्तर अभ्यास करते रहने से हो सकती है ॥३॥

बहुभृत्यवद्वा प्रत्येकम् ॥४॥

सूत्रार्थ—वा=अथवा, बहुभृत्यवत्=अधिक कुटुम्बियों के समान, प्रत्येकम्=जैसे प्रत्येक का पालन करने की प्रवृत्ति होती है उसी प्रकार बारम्बार सृष्टि रचना चलती रहती है।

व्याख्या—जैसे एक वड़े कुटुम्व में बहुत से प्राणी होते हैं और उनके भरण-पोषण का भार एक व्यक्ति पर ही होता है, तब उनमें से प्रत्येक के पालन करने की दृष्टि से जितने अधिक व्यक्ति होंगे, उतने अधिक साधन होंगे और वार-वार रसोई पकाने जैसे कार्य करने पड़ेंगे। वैसे ही अनन्त जीवों के भरण-पोषण के लिये प्रकृति को भी अनन्त काल तक अपना रचना-कार्य करते रहना है। इस प्रकार सृष्टि-प्रवाह अनन्त है, वह कभी समाप्त नहीं हो सकता ।।४।।

प्रकृतिवास्तवे च पुरुषस्याध्याससिद्धिः ।।५।।

सूत्रार्थ—प्रकृतिवास्तवे=प्रकृति के वास्तविक होने में, च=और, पुरुषस्य=पुरुष के, अध्यास सिद्धिः=अध्यास की सिद्धि होती है।

व्याख्या—अध्यास का अर्थ है एक वस्तु का दूसरे में आरोप होना। सृष्टि के उत्पन्न करने का कार्य वास्तव में प्रकृति का है, परन्तु पुरुष का प्रकृति से सम्वन्ध है, इसलिए पुरुष में सृष्टि-रचना करने का आरोप कर लिया जाता है। अर्थात् सृष्टि रचना प्रकृति करती है, परन्तु उसका पुरुष से सम्वन्ध होने के कारण यह दिया जाता है कि सृष्टि-रचना पुरुष (ईश्वर) ने की है। जैसे युद्ध में सैनिक हारते हैं तो राजा की हार और सैनिक जीतते हैं तो राजा की जीत कही जाती है। इससे सिद्ध होता है कि प्रकृति ही सृष्टि की रचना करती है।।५।।

कार्यतस्तत्सिद्धेः ।।६।।

सूत्रार्थ—कार्यतः=प्रकृति के कार्य से, तत्सिद्धेः=उसकी सिद्धि होती है।

व्याख्या—प्रकृति के जो महदादि कार्य हैं और उनके द्वारा

वह जीवात्माओं को भोग या मोक्ष प्राप्त कराती है, उन कार्यों के द्वारा ही प्रकृति का होना सिद्ध होता है। यदि वह आत्माओं के लिए भोगों को प्राप्त न कराती तो उसका कार्य रूप में बदलना ही निरर्थक होता। जब उसका कार्य होना सिद्ध हैं तो उन्हीं कार्यों के द्वारा प्रकृति का होना भी सिद्ध हो जाता है ॥६॥

चेतनोद्देशान्नियमः कण्टकमोक्षवत् ॥७॥

सूत्रार्थ—चेतनोद्देशात्=चेतन की प्रेरणा से, कण्टक-मोक्षवत्=कांटे से छूटने के समान, नियमः=नियम है।

व्याख्या—जैसे कोई अन्धा काँटों वाले मार्ग पर जाने को है, और वह किसी नेत्र वाले की प्रेरणा से उस मार्ग से हटकर दूसरी ओर चल देता है, इससे उसके काँटा नहीं लगता, वैसे ही चेतन पुरुष की प्रेरणा से प्रधान प्रकृति आत्माओं के लिए भोग या मोक्ष प्राप्त कराने के साधन रूप कार्यों की रचना करती है। इस प्रकार ज्ञानी पुरुष की प्रेरणा से अविवेकी पुरुष, विवेक प्राप्त कर, मोक्ष के लिए प्रयत्नशील होता है ॥७॥

अन्ययोगेऽपि तत्सिद्धिर्नाञ्जस्येनायोदाहवत् ॥८॥

सूत्रार्थ—अन्ययोगे=अन्य का संयोग होने पर, अपि=भी, आञ्जस्येन=प्रत्यक्ष रूप से, अयोदाहवत्=लोहे से जले के समान, तत्सिद्धिः=उसकी सिद्धि, न=नहीं है।

व्याख्या—अन्य का संयोग अर्थात् प्रकृति को प्रेरणा रूप से ईश्वर का संयोग होने पर भी ईश्वर को सृष्टि का रचने वाला नहीं माना जा सकता। जैसे अग्नि से गर्म होने पर लोहा, जलाने में अग्नि का आधार है, परन्तु उसमें गर्मी अग्नि की होती है और कहा यह जाता है कि अमुक व्यक्ति गर्म लोहे से जल गया, वैसे ही ईश्वर का

आधार प्रकृति है, ईश्वर स्वयं जगत् के रूप में नहीं होता, किन्तु वह जगत् का नियन्ता मात्र है। प्रकृति के साथ सहयोग होने पर भी, प्रत्यक्ष रूप से, ईश्वर के द्वारा भोग और मोक्ष के साधन प्राप्त नहीं हो सकते, यह कार्य तो प्रकृति के ही हैं, ईश्वर के नहीं ।।८।।

रागविरागयोर्योगः सृष्टिः ।।९।।

सूत्रार्थ—रागविरागयोः=राग और विराग के, योगः= संयोग से, सृष्टिः=सृष्टि उत्पन्न होती है।

व्याख्या—जब प्रकृति अपनी कारण रूप अवस्था में बदलकर कार्य रूप में आती है अर्थात् प्रलय काल में लीन हुई सृष्टि जब जगत् रूप से प्रकट होती है, उसी अवस्था को सृष्टि का उत्पन्न होना कहते हैं। परन्तु ऐसा तभी होता है जब राग और विराग परस्पर मिल जाते हैं। सत्व, रज, तम् इन तीनों गुणों का मिलना 'राग' और इन तीनों गुणों से रहित 'विराग' कहा जाता है। 'राग' प्रकृति का और 'विराग' पुरुष का लक्षण है। इन दोनों के संयोग से ही संसार का रचना कार्य होता है ।।९।।

महदादिक्रमेण पञ्चभूतानाम् ।।१०।।

सूत्रार्थ—महदादिक्रमेण=महत्तत्व आदि के क्रम से, पञ्चभूतानाम्=पूंचभूतों की उत्पत्ति ह।

व्याख्या—प्रथम अध्याय में सृष्टि-क्रम कहा जा चुका है। उसी के अनुसार महत्तत्व आदि के क्रम से पंचभूत अर्थात् पृथ्वी, आकाश, वायु, अग्नि और जल की उत्पत्ति होती है। प्रकृति का पहला कार्य महत्तत्व है, उससे अहंकार और अहंकार से इन्द्रियों की उत्पत्ति कही गई है। अहंकार के दो रूप हैं उनमें इन्द्रियों की उत्पत्ति सात्विक अहकार से और पंचतन्मात्राओं की उत्पत्ति तामस अहंकार से होती है। उन पंच-तन्मात्राओं से पृथ्वी आदि पंचभूत उत्पन्न होते हैं ।।१०।।

आत्मार्थत्वात् सृष्टेर्नैषामत्मार्थ आरम्भः ॥११॥

सूत्रार्थ—सृष्टेः=सृष्टि का, आत्मार्थत्वात्=आत्मा के लिए होने से, एषाम्=इनका, आत्मार्थ=अपने लिए, आरम्भः=उत्पन्न होना, न=नहीं है।

व्याख्या—सृष्टि के सम्पूर्ण पदार्थ आत्मा के लिए भोग रूप हैं, इसलिए महत्तत्व आदि की उत्पत्ति अपने निजी प्रयोजन के लिए नहीं होता। यह सभी अचेतन पदार्थ केवल चेतन के प्रयोजन को ही सिद्ध करते हैं, क्योंकि कोई भी अचेतन पदार्थ किसी प्रकार के भोग में समर्थ नहीं है ॥११॥

दिक्कालावाकाशादिभ्यः ॥१२॥

सूत्रार्थ—दिक्कालौ=दिशा और काल, आकाशादिभ्यः=आकाश आदि से हैं।

व्याख्या—दिशा और काल दोनों ही आकाश से उत्पन्न हुए हैं, इसलिए यह भी आकाश के समान ही व्यापक हैं। आकाश का मतलब है स्थान अथवा अवकाश की जगह। पूर्व, पश्चिम आदि चारों दिशायें किसी स्थान में होती हैं क्योंकि दिखाई देने वाले सब स्थान कुछ न कुछ जगह घेरते ही हैं, वह जगह ही यहाँ आकाश समझनी चाहिए अथवा दिशायें आकाश के अन्तर्गत हैं। जब दशों दिशायें कहते हैं, तब उनमें एक आकाश भी गिना जाता है और दिन, महीने, वर्ष या घड़ी पल आदि काल सूर्य और चन्द्रमा के उदय, अस्त से नापे जाते हैं और यह सूर्य-चन्द्र आकाश को उपाधियाँ हैं, इसीलिए दिशा और काल दोनों की उत्पत्ति आकाश से मानी गई है। इस सूत्र में 'आदि' शब्द का प्रयोग आकाश के उपाधि रूप सूर्य-चन्द्र के लिए हुआ है ॥१२॥

अध्यवसायोबुद्धिः ॥१३॥

सूत्रार्थ—अध्यवसायः=निश्चय वृत्ति वाली, बुद्धिः=बुद्धि महत्तत्व है।

व्याख्या—सांख्य मत में महत्तत्व का दूसरा नाम 'बुद्धि' कहा गया है। बुद्धि किसी कार्य का निश्चय कराने वाली है, इसलिए उसे अध्यवसाय कहा है। बुद्धि का व्यापार निश्चय करना है। यह तत्व कार्य में प्रवृत्त कराने वाला होने से व्यापक भी माना गया है ॥१३॥

तत्कार्यं धर्मादि ॥१४॥

सूत्रार्थ—धर्मादि=धर्म आदि, तत्कार्यं=उसके कार्य हैं।

व्याख्या—धर्म आदि कार्य बुद्धि के द्वारा ही होते हैं। पूर्व सूत्र में अध्यवसाय अर्थात् निश्चय करना बुद्धि कार्य बताया था। किन्तु, धर्म आदि अर्थात् धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष जो चार पदार्थ कहे हैं उन सब की प्राप्ति बुद्धि के द्वारा ही हो सकती है। सत्व, रज, तम के संयोग से यह भी तीन प्रकार की हो जाती है तथा धर्म आदि कार्य सतोगुणी बुद्धि से होते हैं ॥१४॥

महदुपरागाद् विपरीतम् ॥१५॥

सूत्रार्थ—उपरागात्=उपराग से, महत्=महत्तत्व अर्थात् बुद्धि, विपरीतम्=विपरीत होती है।

व्याख्या—जैसे, सत्व गुण के संयोग से बुद्धि धार्मिक और अच्छे कर्मों में लगती है, वैसे ही रजोगुण और तमोगुण के सयोग से वह धर्म के विपरीत अर्थात् अधर्म वाले कार्यों में प्रेरित करती है। परन्तु ऐसी दशा में उसकी निश्चय करने वाली वृत्ति बनी रहती है। सका तात्पर्य यह है कि सतोगुण के योग से बुद्धि धार्मिक कार्यों

का निश्चय कराती है और रजोगुण या तमोगुण के योग से पाप कर्मों का निश्चय कराती है ॥१५॥

अभिमानोऽहङ्कारः ॥१६॥

सूत्रार्थ=अभिमानो:=अभिमान, अहङ्कार:=अहङ्कार को कहते हैं।

व्याख्या--अहङ्कार का स्वरूप अभिमान है, इसलिये अभिमान को ही अहङ्कार कहा गया है। 'मैं हूँ' 'अमुक कार्य मैंने किया है' मैं अमुक राज्य का स्वामी हूँ' इस प्रकार के भाव ही अभिमान हैं। अहङ्कार को अन्तःकरण भी कहते हैं और अभिमान उसकी वृत्ति या धर्म माना गया है। १६॥

एकादशपञ्चतन्मात्रं तत्कार्यम् ॥१७॥

सूत्रार्थ—तत्कार्यम्=उस अहंकार के कार्य, एकादश=ग्यारह इन्द्रियाँ और पंचतन्मात्रम्=पाँच तन्मात्रायें हैं।

व्याख्या—अहङ्कार के द्वारा ग्यारह इन्द्रियों और पंचतन्मात्रायें उत्पन्न हुई हैं। इन्द्रियों के दो रूप हैं भीतरी और बाहरी। भीतरी इन्द्रिय एक है, जिसे 'मन' कहते हैं, बाहरी इन्द्रियाँ दस हैं, जिनमें कान, त्वचा, नेत्र, जीभ और नासिका यह पाँच ज्ञानेन्द्रिय तथा वाणी, हाथ, पाँव, पायु, उपस्थ यह पाँच कर्मेन्द्रिय हैं। पाँचों तन्मात्राओं को सूक्ष्म तत्व कहते हैं, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन कार्यों के आधार पर ही इनके नाम कहे गये हैं ॥१७॥

सात्विकमेकादशकं प्रवर्त्तते वैकृतादहङ्कारात् ॥१८॥

सूत्रार्थ—वैकृतात्=विकार को प्राप्त हुए, अहंकारात्=अहंकार से, सात्विकम्=सात्विक (सतोगुणी), एकादशकम्=ग्यारहों इन्द्रियाँ कार्य में प्रवृत्त होती हैं।

व्याख्या—तीन गुणों के प्रभाव से मिल कर विकार को प्राप्त हुए अहङ्कार के तीन लक्षण माने हैं, जैसे सात्विक, राजस और तामस, इनमें से सात्विक विकार वाले अहङ्कार से सात्विक मन की उत्पत्ति होती है, राजस विकार वाले अहङ्कार से दसों इन्द्रियाँ और तामस विकार वाले अहङ्कार से पंचतन्मात्रायें उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार विकारयुक्त अहङ्कार से इन्द्रियों का कार्य में लगना सिद्ध होता है ॥१८॥

कर्मेन्द्रियबुद्धीन्द्रियैरान्तरमेकादशकम् ॥१९॥

सूत्रार्थ—कर्मेन्द्रियबुद्धीन्द्रियैः=कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों के साथ, एकादशम्=ग्यारहवीं, आन्तरम्=भीतरी इन्द्रिय 'मन' है।

व्याख्या—पाँच ज्ञानेन्द्रिय और पाँच कर्मेन्द्रिय, यह दसों बाहरी इन्द्रियाँ हैं, इनके साथ ग्यारहवीं भीतरी इन्द्रिय मन है, यही बात इस सूत्र में समझाई गई हैं ॥१९॥

आहंकारिकत्वश्रुतेर्न भौतिकानि ॥२०॥

सूत्रार्थ—श्रुतेः=श्रुति से, आहंकारिकत्व=अहंकार का कार्य प्रतिपादित होने के कारण, भौतिकानि=भूतों से उत्पन्न होना, न=सिद्ध नहीं होता।

व्याख्या—इन्द्रियाँ अहंकार से उत्पन्न हुई हैं, इसीलिए यह अहंकारिक कही जाती हैं। इनका भूतों से उत्पन्न होना सिद्ध नहीं होता, अतः यह भौतिक नहीं कही जा सकतीं, क्योंकि, जब इन्द्रियाँ उत्पन्न हुईं, तब तक पंचभूतों की सत्ता ही प्रकट रूप में नहीं थी तो इन्द्रियों की उत्पत्ति भूतों से कैसी मानी जा सकती है? इससे सिद्ध होता है कि इन्द्रियाँ अहंकार से ही उत्पन्न हुई हैं ॥२०॥

देवतालय श्रुतिर्नारम्भकस्य ॥२१॥

सूत्रार्थ देवतालय-श्रुतिः=देवता में लीन होना बताने

वाली श्रुति, आरम्भकस्य=कारण की सिद्धि, न=नहीं करती।

व्याख्या—देवता, शब्द से अग्नि या सूर्य में इन्द्रिय का लीन होना, जिस श्रुति में कहा है, वह श्रुति अग्नि या सूर्य के द्वारा इन्द्रियों की उत्पत्ति होना सिद्ध नहीं करती, क्योंकि, जैसे जल पृथ्वी पर गिर कर उसी में लीन होता हुआ देखा जाता है, वैसे ही, किसी वस्तु का प्रकार भेद से अपने उत्पन्न करने वाले कारण से अलग दूसरे कारण में लय होना भी देखा जाता है ॥२१॥

तदुत्पत्तिश्रुतेर्विनाशदर्शनाच्च ॥२२॥

सूत्रार्थ—तदुत्पत्तिश्रुतेः=अहंकार से इन्द्रियों का उत्पन्न होना बताने वाली, श्रुति से, च=और, विनाशदर्शनात्=विनाश के प्रत्यक्ष दिखाई देने से भी ऐसा ही सिद्ध होता है।

व्याख्या—अहंकार से इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं, ऐसा श्रुति का वचन है और अहंकार में ही इन्द्रियों को लीन हुए देखा जाता है, इन कारणों से इन्द्रियों का अहंकार से उत्पन्न होना ही सिद्ध होता है तथा उनका पंचभूतों से उत्पन्न होना बिल्कुल सिद्ध नहीं होता ॥२२॥

अतीन्द्रियमिन्द्रियं भ्रान्तानामधिष्ठाने ॥२३॥

सूत्रार्थ—इन्द्रियम्=इन्द्रिय, अतीन्द्रियम्=अत्यन्त सूक्ष्म अथवा इन्द्रियों से दिखाई न पड़ने वाली हैं, अधिष्ठाने=इन्द्रियों के रहने का स्थान गोलक (को इन्द्रिय समझना), भ्रान्तानाम्=भ्रम में पड़े हुए व्यक्तियों की भ्रान्ति है।

व्याख्या—इन्द्रियाँ इतनी सूक्ष्म हैं कि वे इन्द्रियों से दिखाई नहीं पड़तीं। जो लोग इन्द्रियों के स्थान गोलक को ही इन्द्रियाँ समझते हैं, वह उनका भ्रम है, क्योंकि वास्तव में वह इन्द्रियाँ नहीं हैं

उनके रहने का स्थान मात्र हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि इन्द्रियाँ प्रत्यक्ष दिखाई देने वाली वस्तु नहीं है ॥२३॥

शक्तिभेदेऽपि भेदसिद्धौ नैकत्वम् ॥२४॥

सूत्रार्थ—शक्तिभेदे=शक्ति के भेद से, अपि=भी, भेद-सिद्धौ=भेद की सिद्ध हो जाने से, एकत्वम्=इन्द्रियों का एक होना, न=सिद्धि नहीं होता।

व्याख्या—यदि इन्द्रियों के एक न मानने पर, उसकी शक्ति के अनुसार ही विभिन्न विषयों का ग्रहण करना माना जाता है, तो इन्द्रियों के जितने विषय हैं, उतने ही उसके शक्ति भेद मानने पड़ेंगे और जब शक्ति भेद अनेक होंगे तो उसके साधन भी बहुत से मानने होंगे। ऐसी स्थिति में इन्द्रिय का एक होना सिद्ध नहीं होगा। इसलिए इन्द्रियों के जो ग्यारह नाम बताये गए हैं, उनके अनुसार ग्यारह प्रकार की इन्द्रियाँ ही माननी चाहिए ॥२४॥

न कल्पनाविरोधः प्रमाणदृष्टस्य ॥२५॥

सूत्रार्थ—प्रमाणदृष्टस्य=दृष्ट प्रमाण अर्थात् प्रत्यक्ष देखे जाने के कारण, कल्पना-विरोधः=कल्पना के द्वारा विरोध, न=मान्य नहीं है।

व्याख्या—जो पदार्थ प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा सिद्ध होता है, उसके सम्बन्ध में तर्क करके उसका न होना सिद्ध किया जाय तो वह तर्क माना नहीं जा सकता। जब कि विषयों के वर्गीकरण और शरीर की क्रियाओं के आधार पर ग्यारह इन्द्रियों का होना सिद्ध होता है, तब केवल कल्पना के आधार पर इनकी संख्या कम या अधिक कहना अथवा इन्हें अहङ्कार से उत्पन्न हुई न मान कर, भूतों से उत्पन्न हुई बताना ठीक नहीं कहा जा सकता।

उभयात्मक मनः ॥२६॥

सूत्रार्थ—मनः=मन, उभयात्मकम्=दोनों से सम्बन्धित है।

व्याख्या—मन का पांचों ज्ञानेन्द्रिय और पाँचों कर्मेन्द्रिय से सम्बन्ध रहता है क्योंकि, मनका सहयोग प्राप्त किये बिना कोई भी इन्द्रिय अपने कार्य में नहीं लगती। किसी भी विषय का ग्रहण करना, अर्थात् पुस्तक उठाना, लिखना बोलना, चलना, आदि सभी कार्य मन के सहयोग से ही हो सकते हैं। जब मन यह निश्चय करता है कि पुस्तक उठानी है तो हाथ इस कार्य के लिए मन की प्रेरणा से ही उठेगा। इससे सिद्ध होता है कि मन दोनों प्रकार की इन्द्रियों से सम्बन्धित है ॥२६॥

गुणपरिणाम भेदान्नानात्वमवस्थावत् ॥२७॥

सूत्रार्थ—गुणपरिणामभेदात्=गुणों के परिणाम-भेद से अवस्थावत्=अवस्था के समान, नानात्वम्=अनेक भेद हैं।

व्याख्या—सत्व, रज, तम यह तीन गुण हैं, इन तीनों के परिणाम अलग-अलग होते हैं। सतोगुण से प्रीति, रजोगुण से अप्रीति और तमोगुण से विषाद की प्राप्ति होती है। इस प्रकार अलग-अलग परिणाम वाले इन गुणों के भेद से युक्त अहङ्कार विभिन्न इन्द्रियों को उत्पन्न करता है, जिसमें विभिन्न यानी अनेक विषयों के ग्रहण करने की शक्ति होती है। जैसे एक देह की ही बालकपन, जवानी बुढ़ापा आदि अनेक अवस्थायें होती हैं, वैसे ही अहङ्कार से अनेक रूपों की सृष्टि होती है और यह विभिन्नता गुणों के अलग-अलग प्रभाव के कारण होती है।

रूपादिरसमलान्त उभयोः ॥२८॥

सूत्रार्थ—उभयोः=दोनों प्रकार की इन्द्रियों के विषय, रूपादिरसमलान्तः=रूप आदि से रसों के मल तक हैं।

व्याख्या—दोनों प्रकार की इन्द्रियों के जो विषय हैं, उनमें रूप आदि अर्थात् रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द से लगा कर रसों के मल से तात्पर्य है अन्न-रस का मल अर्थात् विष्ठा तक है। दोनों प्रकार की दस इन्द्रियाँ हैं और उनके विषय भी दस प्रकार के ही हैं ।।२८।।

द्रष्टत्वादिरात्मनःकरणत्वमिन्द्रियाणाम् ।।२६।।

सूत्रार्थ– द्रष्टत्वादिः=द्रष्टापन आदि धर्म, आत्मनः= आत्मा के और, करणत्वम्=करणत्व, इन्द्रियाणाम्=इन्द्रियों का धर्म है।

व्याख्या—करणत्व अर्थात् साधन होना इन्द्रियों का धर्म है, क्योंकि इन्द्रियाँ किसी कार्य करने के लिए साधन रूप हैं, जिस आत्मा के लिए साधन बन कर नेत्र रूप को उपस्थित करता है, वही आत्मा इसका द्रष्टा हुआ। इस प्रकार आत्मा का धर्म द्रष्टा होना है। इन्द्रियों के सम्पूर्ण विषयों का ग्रहण करने वाला आत्मा है। जैसे इन्द्रियों का धर्म, साधन होना है, वैसे ही आत्मा का धर्म द्रष्टा, भोक्ता आदि होना है ।।२८।।

त्रयाणां स्वालक्षण्यम् ।।३०।।

सूत्रार्थ—त्रयाणाम्=महत्, अहङ्कार और मन इन तीनों अन्तःकरण का, स्वालक्षण्यम्=अपने-अपने लक्षण वाला होना माना जाता है।

व्याख्या—अन्तःकरण के तीन भेद हैं—महत्, अहङ्कार और मन, यह तीनों ही अपने-अपने गुणों से सम्पन्न हैं। निश्चय करना आदि गुण महत्तत्व के हैं, अभिमान अहङ्कार का गुण है और संकल्प करना मन का कार्य है ।।३०।।

सामान्या करणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च ।।३१।।

सूत्रार्थ—प्राणाद्या=प्राण आदि, पञ्च=पाँच, वायवः=वायु, कारण=अन्तःकरण के, सामान्या=साधारण, वृत्तिः=कार्य हैं।

व्याख्या—प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान यह पाँच वायु रूप प्राण हैं। यह पाँचों प्राण सब कारणों का स्वाभाविक व्यापार हैं। यह पाँचों प्राण वायु के समान चलने वाले होने से वायु कहे गये हैं। 'करण' पद से कुछ विद्वान् तीन अन्तःकरण मानते हैं और कुछ विद्वान् तेरह करणों को मानते हैं, परन्तु यहाँ अन्तःकरण मानना ही ठीक है। कुछ लोग प्राण और वायु को एक मानते हैं तो ऐसा मानना भी निरर्थक है, क्योंकि "एतस्माज्जायते प्राणः मनः सर्वेन्द्रियाणि च, खवायुर्ज्योतिरापश्च पृथिवी विश्वस्य धारिणी" के अनुसार भी प्राण और वायु का अलग-अलग होना मानते हैं ॥३१॥

क्रमशोऽक्रमशश्चेन्द्रियवृत्तिः ॥३२॥

सूत्रार्थ—इन्द्रिय वृत्तिः=इन्द्रियों का यह व्यापार, क्रमशः=क्रम पूर्वक, च=और, अक्रमशः=क्रम के बिना, दोनों प्रकार से ही हो सकता है।

व्याख्या—जब कोई वस्तु सामने होती है तब नेत्र उसे देखता है, फिर मन उसके सम्बन्ध में संकल्प करता है कि यह 'अमुक वस्तु है' फिर अहङ्कार उसे अपनी मानता है, तब बुद्धि उसके सम्बन्ध में निश्चय करती है, इस प्रकार सब कार्य क्रमपूर्वक अर्थात् एक के बाद दूसरा होता चलता है। कभी-कभी इसके विपरीत अथवा क्रम के बिना भी इन्द्रियों का कार्य हो जाता है। कभी अचानक सिंह को अपने सामने आता देखकर, बम आदि या गोली चलने पर या किसी ऐसी ही भयावनी

दुर्घटना से बचने के लिए, उस वस्तु के दिखाई देते ही भागना होता है, इसमें नेत्र आदि के व्यापार का क्रम, शीघ्रता के कारण बिगड़ जाता है, और यह मालूम होता है कि इस कार्य को नेत्र, मन आदि ने क्रम के बिना ही किया है ॥३२॥

वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाऽक्लिष्टाः ॥३३॥

सूत्रार्थ—क्लिष्टाऽक्लिष्टः=क्लिष्ट औरे अक्लिष्ट के भेद से, पंचतय्यः=पाँच प्रकार की, वृत्तयः=वृत्तियाँ हैं।

व्याख्या—बुद्धि की पाँच वृत्तियाँ कही गई हैं—(१) प्रमाण (प्रत्यक्ष आदि), (२) विपर्यय (झूठा ज्ञान), (३) बिकल्प (सन्देह) (४) नींद और (५) स्मृति अर्थात् याद। इन वृत्तियों के द्वारा दुःख और सुख की उत्पत्ति होती है जो वृत्तियाँ आत्मा के अनुकूल अनूभूति पैदा करती हैं वे क्लेश न देने वाली तथा सुखद हैं और जो प्रतिकूल अनुभूति पैदा करती हैं, वे क्लेश अर्थात् दुःख देने वाली हैं। इस प्रकार आत्मा का सभी सुख दुःख रूप भोग, बुद्धि की इन्हीं पाँच वृत्तियों द्वारा पूर्ण होता है ॥३३॥

तन्निवृत्तावुपशान्तोपरागः स्वस्थः ॥३४॥

सूत्रार्थ—तन्निवृत्तौ=उन इन्द्रियों के निवृत्त होने पर उपशान्तोपरागः=विषयों के शान्त होने से, स्वस्थः=आनन्द की प्राप्ति होती है।

व्याख्या—इन्द्रियाँ जब विषयों से निवृत्त हो जाती हैं अर्थात् सांसारिक विषय भोगों का उपभोग कर लेने के बाद विषयों में कोई आकर्षण नहीं रहता, तब वैराग्य उत्पन्न हो जाता है, उस समय अत्यन्त पुरुषार्थ अर्थात् मोक्ष की इच्छा होती है, उस अवस्था में मनुष्य का स्वस्थ होना कहा है। जब विषयों में लगा रहता है, तब विषय भोग

के परिणाम रूप विभिन्न रोग उत्पन्न होते रहते हैं और मनुष्य उन रोग आदि के दुःख से दुःखित रहता है, परन्तु विषय-भोगों का त्याग करने पर स्वास्थ्य अथवा आनन्द की प्राप्ति होती है और सांसारिक झझटों से मुक्त हुआ मनुष्य मोक्ष-प्राप्ति के उपाय में लग जाता है ॥३४॥

कुसुमवच्च मणिः ॥३५॥

सूत्रार्थ—कुसुमवत्=पुष्प के समान, च=ही, मणिः=मणि दिखाई देने लगती है।

व्याख्या—जैसे स्फटिक मणि के पास लाल गुलाब का फूल रख दिया जाय तो उसके प्रतिविम्ब से मणि भी लाल दिखाई देने लगती है, परन्तु फूल के हटते ही वह अपने स्वच्छ रूप में हो जाती है, वैसे ही आत्मा अचेतन देह के सम्पर्क में आकर इन्द्रियों की वृत्ति से दुःख, सुख के फेर में पड़ता है और दुःखी या सुखी दिखाई देने लगता है। परन्तु जैसे ही इन्द्रियाँ विषय-भोगों से निवृत्त हो जाती हैं और सांसारिक विषय भोगों का त्याग होकर, विवेक प्राप्त होता है, तब आत्मा स्वच्छ हो जाता है, क्योंकि इन्द्रियों के सम्पर्क से आत्मा की स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं होता ॥३५॥

पुरुषार्थं करणोद्भवोऽप्यदृष्टोल्लासात् ॥३६॥

सूत्रार्थ—अदृष्टोल्लासात्=अदृष्ट के प्रकट होने से, करणोद्भवः=कारणों का उत्पन्न होना, अपि=भी, पुरुषार्थम्=पुरुष के लिए ही बताया गया है।

व्याख्या—अदृष्ट अर्थात् धर्म, अधर्म के प्रकट होने से भोग या मोक्ष के लिए कारणों अर्थात् इन्द्रियों की प्रवृत्ति होती है। यह इन्द्रियां ही पुरुषार्थ को सिद्ध करने वाली हैं। पुरुषार्थ के चार प्रकार हैं धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। पुरुषार्थों के अनुसार ही इन्द्रियाँ उनमें प्रवृत्त होती

है। यद्यपि, इन्द्रियों को दुःख का कारण कहा जाता है, किन्तु, मोक्ष आदि के प्रयत्नों में भी इन्द्रियों की प्रवृत्ति के बिना प्रयोजन सिद्ध नहीं होता ॥३६॥

धेनुवद्वत्साय ॥३७॥

सूत्रार्थ - वत्साय=बछड़ा और धेनुवत्=गाय के समान ही जीव और इन्द्रियों की प्रवृत्ति समझनी चाहिए।

व्याख्या—जैसे गौ अपने बछड़े के लिये दूध स्वय ही उतार देती है, वैसे ही सब इन्द्रियों की प्रवृत्ति पुरुषार्थं के लिए ही होती है। गौ का दूध बछड़े के लिए होने के समान ही इन्द्रियों की प्रवृत्ति अपने स्वामी अर्थात् आत्मा के लिए होती है ॥३७॥

करणं त्रयोदशविधमवान्तरभेदात् ॥३८॥

सूत्रार्थ—अवान्तर भेदात्=अवान्तर भेद से, करण=करण अर्थात् बुद्धि, अहंकार और इन्द्रियां, त्रयोदशविधम्=तेरह प्रकार के माने गये हैं।

व्याख्या—बुद्धि के अन्तर-भेद से तेरह प्रकार के करण माने जाते हैं, इसमें मुख्य करण बुद्धि है। बुद्धि से अहंकार और अहंकार से ग्यारह इन्द्रियाँ, इस प्रकार बुद्धि, अंहकार और ग्यारह इन्द्रियाँ मिलकर तेरह करण हैं ॥३८॥

इन्द्रियेषु साधकतमत्वयोगात कुठारवत् ॥३९॥

सूत्रार्थ—साधकतमत्व=अत्यन्त साधनपन के, योगात्=सम्बन्ध से, कुठारवत्=कुठार के समान, इन्द्रियेषु=इन्द्रियों में करण का व्यवहार होता है।

व्याख्या—जैसे लकड़ी कुल्हाड़े से काटी जाती है परन्तु कुल्हाड़े का प्रहार जोर का होगा तभी लकड़ी कटेगी। कुल्हाड़े को

लकड़ी पर वैसे ही (बिना प्रहार के) चलाते रहने पर लकड़ी नहीं कट सकती । इससे सिद्ध हुआ कि लकड़ी का सीधा सम्बन्ध कुल्हाड़े से नहीं प्रहार से है, परन्तु यदि कुल्हाड़ा न हो तो प्रहार भी कैसे होगा ? इसलिए कुल्हाड़ा ही लकड़ी काटने का साधन माना जाता है, वैसे ही आत्मा से बुद्धि का सीधा सम्पर्क होते हुए भी, कोई भी बाहरी विषय इन्द्रियों के बिना, बुद्धि तक नहीं पहुँच सकता । इसलिए, मुख्य करण बुद्धि को मानते हुए भी, इन्द्रियों को साधन मानने से, उनका करण माना जाना निरर्थक सिद्ध नहीं होता ॥३९॥

द्वयोःप्रधानं मनो लोकवद्भृत्यवर्गेषु ॥४०॥

सूत्रार्थ--द्वयोः=दोनों प्रकार की इन्द्रियों में, मनः=मन, प्रधानम्=प्रधान है, जैसे, लोकवत्=लोक में (होने के समान) भृत्यवर्गेषु=भृत्यों में होता है ।

व्याख्या---इन्द्रियों के दो भेद माने गये हैं, इसका वर्णन पहिले कई बार किया जा चुका है । एक भेद आन्तरिक मन और दूसरा भेद ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय रूप से दस इन्द्रियाँ, इस प्रकार ग्यारह इन्द्रियाँ कही गई है, इनमें मन प्रधान है । जैसे संसार में राजा का एक प्रधान कर्मचारी होता है तथा अनेक छोटे कर्मचारी होते हैं, उन सबको अलग-अलग कार्य बाँटे जाते हैं तथा उन कार्यों को पूरा करके वे कर्मचारी उस प्रधान कर्मचारी को सौंपते हैं और वह प्रधान कर्मचारी उन कार्यों का परिणाम राजा तक पहुँचाता है । इसी प्रकार सब इन्द्रियाँ अपने-अपने कार्य मन को सौंपती हैं ॥४०॥

अव्यभिचारात् ॥४१॥

सूत्रार्थ---अव्यभिचारात्=नियम में बाधा न होने से भी मन की प्रमुखता सिद्ध है ।

व्याख्या—बाहरी अनेक इन्द्रिय के साथ मन का सम्बन्ध बना रहता है, क्योंकि प्रत्येक बाहरी इन्द्रिय बाह्य विषय को अपने भीतर लेकर मन को सोंपती है, इस नियम में कभी बाधा नहीं होती, इससे भी मन की प्रधानता सिद्ध होती है ॥४१॥

तथाऽशेषसंस्काराराधारत्वात् ॥४२॥

सूत्रार्थ—प्रथा—और अशेष, संस्कार=सब संस्कार का, आधारत्वात्=आधार होने से भी मन की प्रधानता है।

व्याख्या—सब सस्कारों को धारण करने वाला मन कहा है, परन्तु सब कारणों में बुद्धि को प्रधान माना गया है। सभी इन्द्रियाँ अपना-अपना विषय मन को सौंपती हैं, मन अहङ्कार को सौंपता है और अहङ्कार बुद्धि को सौंप देता है, इस प्रकार सब कारणों में बुद्धि का प्रधान होना ही सिद्ध होता है ॥४१॥

स्मृत्यानुमानाच्च ॥४३॥

सूत्रार्थ—स्मृत्या=स्मृति से, च=और, अनुमानात्=अनुमान से भी ऐसा सिद्ध होता है।

व्याख्या—स्मृति अर्थात् स्मरण रूप वृत्ति के द्वारा बुद्धि की प्रधानता स्पष्ट होती है। पिछले अनुभवों संस्कारों से स्मृति (याद) बनी रहती है और बुद्धि उन सब संस्कारों की आधार रूप है, इसलिए जिन जिन पिछले अनुभवों की याद बनी हो, उस याद के द्वारा ही बुद्धि का अनुमान होता है। दूसरे कारण याद बनाये रखने का कार्य नहीं कर सकते, केवल बुद्धि ही याद बनाये रख सकती है ॥४३॥

संभवेन्न स्वतः ॥४४॥

सूत्रार्थ—स्वतः=अपने आप, याद बनी रहना, संभवेत् =संभव, न=नहीं है।

व्याख्या— यदि यह कहें कि स्मृति आत्मा की वृत्ति है, तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि स्मृति आत्मा की वृत्ति नहीं, वल्कि बुद्धि का ही कार्य है। बिना बुद्धि के अपने आप ही पुरुष को याद बनी रहे, यह कभी सम्भव नहीं है और न भीतरी और बाहरी करण, भोग या मोक्ष के साधनों को उपस्थित करने के लिये स्वयं प्रवृत्त होते हैं क्योंकि सभी करण अचेतन हैं, इसलिए इनमें स्वयं प्रवृत्ति हो नहीं सकती। यह तो चेतन आत्मा के संयोग से ही कार्य में प्रवृत्त हो सकते हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि याद बनी रहना बुद्धि के द्वारा सम्भव है और बुद्धि को प्रेरित जीवात्मा करता है ॥४४॥

आपेक्षिको गुणप्रधानभावः क्रियाविशेषात् ॥४५॥

सूत्रार्थ—क्रिया विशेषात्=कार्य की विशेषता से, आपेक्षिकः=करणों में परस्पर अपेक्षा सम्बन्धी, गुणप्रधानभावः=गुण की प्रधानता का भाव है।

व्याख्या—कार्य की शक्ति के कम या अधिक होने के कारण, एक के कार्य से दूसरे का कार्य अधिक होने से उसमें गुण की प्रधानता का भाव बनता है। जैसे नेत्र आदि के कार्यों से उनके नियत विषय का ग्रहण होता है। नेत्र देखने का कार्य करता है, कान सुनने का काम करते हैं, नाक सूँघती है तथा मन उन-उन इन्द्रियों के विषयों का संकल्प करता है। इस प्रकार मन का कार्य इन्द्रियों के कार्य से विशेष है, मन से अहङ्कार और अहंकार से बुद्धि श्रेष्ठ है। इससे सिद्ध होता है कि अपनी-अपनी कार्य-शक्ति के अनुसार ही करणों में गुण की प्रधानता होती है ॥४५॥

तत्कर्मार्जितत्वात्तदर्थमभिचेष्टा लोकवत् ॥४६॥

सूत्रार्थ—तत्कर्मार्जितत्वात्=उसके कर्म के अर्जित होने

के कारण, लोकवत्=संसार में होने के समान, तदर्थ=उस आत्मा के लिए, अभिचेष्टा=करणों की वृत्ति है।

व्याख्या—जीवात्मा के संचित हुए कर्मों के अनुसार ही, उनके लिये सब करण प्रवृत्त होते हैं। क्योंकि जीवात्मा की संग्रह की हुई कर्म-फल रूप साधन सामग्री, उसके अपने ही काम में आती है, उसका कोई दूसरा जीवात्मा भोग नहीं करता। इस प्रकार संचित कर्म-फल का भोग कराने के लिए ही करण कार्य करते हैं ॥४६॥

समान कर्मयोगे बुद्धेः प्राधान्यं लोकवल्लोकवत् ॥४७॥

सूत्रार्थ—समान कर्मयोगे=समान कर्मों के सम्बन्ध से, बुद्धेः=बुद्धि की, प्राधान्यम्=प्रधानता है, लोकवत्=जैसा कि लोक में देखा जाता है।

व्याख्या—सभी करण अपने-अपने नियत कार्य को समान रूप से करते हैं और उनका एक-सा उपभोग है, फिर भी बुद्धि को ही प्रधान माना है। संसार में देखा जाता है कि एक राजा और सैनिक की स्थिति में बहुत बड़ा अन्तर है। अपने-अपने नियत कार्यों को करते हुए भी राजा की प्रमुखता मानी जाती है। 'लोकवत्' पद का दो बार कहना अध्याय समाप्ति की सूचना समझनी चाहिये ॥४७॥

॥ इति द्वितीयः अध्याय समाप्त ॥

तृतीयोऽध्यायः

अविशेषाद् विशेषारम्भः ॥१॥

सूत्रार्थ—अविशेषात्=अविशेषों से, विशेषारम्भः=विशेषों का आरम्भ होता है।

व्याख्या—पंच तन्मात्रों को अविशेष कहा गया है, इन्हीं को सूक्ष्म भूत कहते हैं, इन पाँच सूक्ष्म भूतों से पाँच स्थूल भूत अर्थात् पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश की उत्पत्ति होती है। सब पदार्थों का प्रत्यक्ष दिखाई देना इन स्थूल तत्वों की विशेषता है इसलिए इन्हें विशेष कहा है। सूक्ष्म तत्व अविशेष इसलिए कहे गये हैं कि दिखाई देने वाले पदार्थों के कारण को खोजते हुए, जहाँ उन पदार्थों का अस्तित्व नहीं पाते, वह अवस्था ही 'अविशेष' मानी गई है ॥१॥

तस्माच्छरीरस्य ॥२॥

सूत्रार्थ—तस्मात्=उन स्थूल भूतों से, शरीरस्य=शरीर का आरम्भ होता है।

व्याख्या—प्रथम सूत्र में सूक्ष्म भूतों से जिन स्थूल भूतों का उत्पन्न होना बताया गया, उन स्थूल भूतों से शरीरों की उत्पत्ति होती है। इसका अर्थ यह भी है कि पूर्व अध्यायों में जिन तेईस तत्वों का

वर्णन किया जा चुका है, उन सूक्ष्म और स्थूल तेईस तत्वों से सूक्ष्म और स्थूल शरीरों की उत्पत्ति होती है।

तद्बीजात् संसृतिः ॥३॥

सूत्रार्थ—तद्बीजात्=उन स्थूल भूतों के बीज से, संसृतिः =देहान्तर रूप में आवागमन होता है।

व्याख्या—एक शरीर से दूसरे शरीर में जाने, आने का कार्य स्थूल भूतों के बीज से होता है। जब आत्मा मरण काल मे शरीर छोड़ता है, तब स्थूल शरीर यहीं रह जाता है और वह सूक्ष्म शरीर के द्वारा, दूसरे स्थूल शरीर को धारण करता है ॥३॥

आविवेकाच्च प्रवर्त्तनमविशेषाणाम् ॥४॥

सूत्रार्थ—आविवेकात्=जब तक विवेक उत्पन्न हो तब तक, अविशेषाणाम्=अविशेषों अर्थात् सूक्ष्म भूतों की, प्रवर्त्तनम् =प्रवृत्ति रहती है।

व्याख्या—जब तक मनुष्य में यिवेक उत्पन्न नहीं होता अर्थात् अविवेक रहता है, तब तक यह सूक्ष्म भूत उसे जन्म मरण के चक्र में डाले रहते हैं। जब किसी जीवात्मा को आत्म ज्ञान हो जाता है तब सूक्ष्म भूतों की प्रवृत्ति बिल्कुल समाप्त हो जाती है, इस प्रकार विवेक ही तन्मात्रों की प्रवृत्ति की सीमा सिद्ध होता है ॥४॥

उपभोगादितरस्य ॥५॥

सूत्रार्थ—इतरस्य=विवेकी से भिन्न (अविवेकी) का, उपभोगात्=उपभोग बना रहने से, उसका आवागमन नहीं छूटता।

व्याख्या—जिसको विवेक उत्पन्न नहीं होता और अविवेक बना रहता है, उसका कर्म-फल रूप भोग बना रहता है, इसलिए उसका जन्म मरण का चक्र बन्द नहीं होता। इसका तात्पर्य यह है कि जब तक

भोगों का उपभोग करता रहेगा, तब तक मोक्ष प्राप्ति नहीं हो सकती, केवल आत्मज्ञान होने पर ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है ।।५५।।

सम्प्रति परिमुक्तोद्वाभ्याम् ।।६।।

सूत्रार्थ--सम्प्रति=अब, द्वाभ्याम्=दोनों अवस्थाओं से, परिमुक्तः=मुक्त हो जाता है ।

व्याख्या सृष्टि काल में आत्मा वासना और भोग आदि से बँधा रहता है और अपने कर्म-फल रूप सुख-दुःख का भोग करता रहता है और आवागमन के समय में सूक्ष्म शरीर तथा भौतिक शरीरों की प्राप्ति होती रहती है, परन्तु प्रलय काल में सूक्ष्म और स्थूल दोनों प्रकार के शरीर अपने-अपने कारणों में लीन हो जाते हैं, इस प्रकार दोनों ही शरीरों से मुक्त होता हुआ जीवात्मा सुख-दुःख से भी छूट जाता है ।।६।।

मातापितृजं स्थूलं प्रायशः इतरन्न तथा ।।७।।

सूत्रार्थ—प्रायशः=प्रायः, स्थूलम्=स्थूल शरीर, मातापितृजम्=माता पिता के द्वारा उत्पन्न होता है, किन्तु, इतरत्=इससे भिन्न अर्थात् सूक्ष्म शरीर, तथा=उस प्रकार उत्पन्न नहीं होता ।

व्याख्या—अधिकतर स्थूल शरीर माता-पिता के संयोग से उत्पन्न होता है । अधिकतर इसलिये कहा है कि कीड़े आदि अयोनिज अर्थात् बिना माता-पिता के उत्पन्न होते हैं, इस प्रकार ज्यादातर स्थूल शरीर माता-पिता से ही पैदा होते कहे गये हैं, परन्तु, सूक्ष्म शरीर इस प्रकार माता-पिता के द्वारा पैदा नहीं होता, और नियत रूप से आत्मा के साथ प्रलय काल तक रहता है ।।७।।

पूर्वोत्पत्तेस्तत्कार्यत्वं भोगादेकस्य नेतरस्य ।।८।।

सूत्रार्थ—पूर्वोत्पत्तेः=सृष्टिकाल में उत्पन्न सूक्ष्म शरीर

के, भोगात्=भोग से, एकस्य=एक का भोग होता है, इतरस्य =दूसरे का, न=नहीं होता, क्योंकि, तत्कार्यत्वम्=उसी का यह कार्य है ।

व्याख्या—सूक्ष्म शरीर की उत्पत्ति सृष्टि-काल में ही होती है, और प्रलयकाल में तीन अवस्था हो जाती हैं। सृष्टि काल में सब से पहिले सूक्ष्म शरीर के तत्व उत्पन्न होते हैं, इस प्रकार सूक्ष्म शरीर के प्रकट होते ही उसमें भोग होते हैं। इस प्रकार सूक्ष्म शरीर से ही सुख-दुःख आदि की प्राप्ति होती है, क्योंकि यह सुख-दुःख रूप कार्य उसी के हैं, स्थूल शरीर द्वारा सुख-दुःख की प्राप्ति नहीं हो सकती। यदि ऐसा होता तो स्थूल शरीर के मरते ही सुख-दुःख भी समाप्त हो जाते, और स्थूल शरीर में सुख-दुःख दिखाई नहीं देते ।।८।।

सप्तदशैकं लिंगम् ।।९।।

सूत्रार्थ—सप्तदश=सत्रह और एकम्=एक (इस प्रकार) अठारह तत्वों का, लिङ्गम्=सूक्ष्म शरीर होता है ।

व्याख्या—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, एक मन, पाँच तन्मात्र, एक अहङ्कार और एक बुद्धि इस प्रकार अठारह तत्वों का सूक्ष्म शरीर होता है। विज्ञान भिक्षु ने इस सूत्र का अर्थ 'सत्रह तत्वों से एक सूक्ष्म 'शरीर होना' किया है और अहङ्कार को उन्होंने बुद्धि के अन्तर्गत माना है, परन्तु अहङ्कार तो बुद्धि से अलग तत्व है, इसलिए वह बुद्धि का भेद नहीं हो सकता। यदि अहङ्कार को बुद्धि के अन्तर मानें तो मन को भी बुद्धि के अन्तर मानना चाहिए। इससे सिद्ध होता है कि सूक्ष्म शरीर अठारह तत्वों का ही होता है ।।९।।

व्यक्तिभेदः कर्मविशेषात् ।।१०।।

सूत्रार्थ—व्यक्ति भेदः=व्यक्ति की विभिन्नता, कर्मविशेषात्=कर्म की विशेषता से है ।

व्याख्या—कुछ लोग शंका करते हैं कि यदि सूक्ष्म शरीर एक ही प्रकार का है तो शरीरों की आकृति अलग-अलग क्यों होती है? इसका उत्तर देते हैं कि व्यक्तियों के शरीरों की अलग-अलग आकृति, उनके कर्मों की विशेषता से होती है, क्योंकि कर्म ही जीवात्मा के भोग का कारण है। अच्छे कर्म का अच्छा फल और बुरे कर्म का बुरा फल भोगना पड़ता है। इस प्रकार विभिन्न रूप होना अपने कर्मों का ही फल है ॥१०॥

तदधिष्ठानाश्रये देहे तद्वादात् तद्वादः ॥११॥

सूत्रार्थ – तदधिष्ठानाश्रये = उस आत्मा के अधिष्ठान रूप आश्रय, देहे = स्थूल शरीर में, तद्वादात् = उस पद (देह) का प्रयोग होने से, तद्वादः = सूक्ष्म शरीर में 'देह' पद कहा जाना सिद्ध होता है।

व्याख्या—सूक्ष्म शरीर अठारह तत्वों से बना है, आत्मा इस सूक्ष्म शरीर के आश्रय में रहता है, इसलिए उसे आत्मा का अधिष्ठान कहा है, परन्तु, यह अधिष्ठान रूप सूक्ष्म शरीर भी स्थूल शरीर में रहता है और बिना स्थूल शरीर की सहायता के वह कोई सांसारिक कार्य नहीं कर सकता। उसके सभी कार्य स्थूल शरीर की सहायता से ही हो सकते हैं, इसलिए स्थूल शरीर को देह कहा जाने से सूक्ष्म शरीर को भी देह कहा जाना सिद्ध हो जाता है ॥११॥

न स्वातन्त्र्यात् तदृते छायावच्चित्रवच्च ॥१२॥

सूत्रार्थ—छायावत् = छाया के समान, या चित्रवत् = चित्र के समान, तदृते = स्थूल शरीर के आश्रय के बिना, स्वातन्त्र्यात् = स्वतन्त्र रूप से, न = नहीं रह सकता।

व्याख्या—जैसे बिना आश्रय के छाया नहीं रह सकती और

बिना आधार के चित्र नहीं बन सकता, वैसे ही स्थूल शरीर के आश्रय के बिना सूक्ष्म शरीर स्वतन्त्र रूप से नहीं रह सकता, क्योंकि संसार में सूक्ष्म शरीर की प्रत्यक्ष स्थिति नहीं है ॥१२॥

मूर्त्तत्वेऽपि न संघातयोगात् तरणिवत् ॥१३॥

सूत्रार्थ—मूर्त्तत्वे=मूर्त होने पर, अपि=भी, संघात-योगात्=संघात के सहयोग से, तरणिवत्=सूर्य के समान, न=नहीं रह सकता।

व्याख्या—सूक्ष्म शरीर संघात के संयोग से मूर्त्त अर्थात् प्रत्यक्ष होने पर भी किसी अधिष्ठान के बिना नहीं ठहर सकता। जैसे बहुत से तेज इकट्ठे होकर भी बिना पृथिवी के तत्वों के आधार के ठहर नहीं सकते अथवा सूर्य की किरणें धूप के रूपों में पृथिवी पर पड़कर पृथिवी, भीत या किसी अन्य आधार के बिना ठहर नहीं सकतीं ॥१३॥

अणुपरिमाणं तत् कृतिश्रुतेः ॥१४॥

सूत्रार्थ—तत्=वह, अणुपरिमाणं=अणु के समान वाला है, कृतिश्रुतेः=उसकी उत्पत्ति ऐसी ही सुनी जाती है।

व्याख्या—सूक्ष्म शरीर अणु के समान आकार वाला है। "तमुत्क्रामन्त प्राणोऽनुक्रामति प्राणमनुत्क्रामन्तं स विज्ञानो भवति" इस श्रुति के अनुसार 'उस पुरुष के निकलते हुए प्राण उठकर जाते हुए लिंग शरीर से युक्त होते हैं।' इससे लिंग शरीर अथवा सूक्ष्म शरीर का अणु परिणाम-वाला होना सिद्ध है ॥१४॥

तदन्नमयत्वश्रुतेश्च ॥१५॥

सूत्रार्थ--च=और, तदन्नमयत्व=उसका अन्नमय होना भी, श्रुतेः=सुना जाता है।

व्याख्या—सूक्ष्म शरीर का अन्नमय होना कहा गया है।

छान्दोग्य श्रुति में 'ह्यन्नमयहि सौम्य मन' इत्यादि से 'मन अन्नमय है, प्राण जलमय है, वाणी तेजमयी है, ऐसा कहा गया है और सूक्ष्म शरीर उन्हीं मन आदि तत्वों का समुदाय है, इसलिए उसका अन्नमय कहना ठीक ही है ।।१५।।

पुरुषार्थं संसृतिर्लिङ्गानां सूपकारवद्राज्ञः ।।१६।।

सूत्रार्थ—लिङ्गानाम् = लिंग का शरीर रूप कारणों का, संसृति=संचरण. राज्ञः = राजा के, सूपकारवत् = रसोइये के समान, पुरुषार्थ = जीवात्मा के लिए है।

व्याख्या—सभी करण जीवात्मा के लिए ही प्रवृत्त होते हैं। एक देह से दूसरे देह में जाने के समय करणों की जो गति होती रहती है, वह सब आत्मा का कार्य सिद्ध करने के लिए ही है। जैसे रसोइये को अपने मालिक की रसोई बनाने के लिए रसोई घर में जाना पड़ता है, वैसे ही सूक्ष्म शरीर की स्थिति भी जीवात्मा के लिए है ।।१६।।

पांचभौतिको देहः ।।१७।।

सूत्रार्थ—देहः = शरीर, पांचभौतिक = पंचभूतों से बना है।

व्याख्या—स्थूल शरीर पंचभूतों से बना हुआ है। शरीर का भीतरी-बाहरी मुख्य भाग पृथ्वी-तत्व से, रक्त आदि जल तत्व से, रक्त आदि तथा मल आदि की गति वायु तत्व से, और भीतर-बाहर के सब अवकाश-स्थान आकाश तत्व से बने हैं। उस प्रकार पंचभूतों से देह का बनना सिद्ध है ।।१७।।

चातुर्भौतिकमित्येके ।।१८।।

सूत्रार्थ—एके = एक आचार्य, इति = ऐसा मानते हैं कि यह शरीर, चातुर्भौतिकम् = च.र भूतों से बना है।

व्याख्या– कई एक विद्वान् इस शरीर को पंचभूतों से बना हुआ न मानकर, चार भूतों से बना हुआ मानते हैं, उनका विचार है कि आकाश अवयव रहित है, इसलिए आकाश किसी दूसरे तत्व के साथ मिलता नहीं और वह किसी वस्तु का उत्पन्न करने वाला नहीं हो सकता, इस प्रकार शरीर केवल चार भूतों से ही उत्पन्न होता है ॥१८॥

ऐकभौतिकमित्यपरे ॥१९॥

सूत्रार्थ—अपरे=अन्य आचार्य, इति=ऐसा मानते हैं कि यह शरीर, ऐकभौतिक=एक भौतिक तत्व से ही वना है।

व्याख्या—कुछ विचारक शरीर को केवल एक पृथिवी तत्व से ही बना मानते हैं। देह को उत्पन्न करने वाले तत्व पार्थिव अर्थात् पृथिवी के तत्व ही हैं, दूसरे तत्व तो उसकी उत्पत्ति में सहायता देने वाले हैं। इस प्रकार वे पंचभूतों से देह रचना मानते हुए भी, जिस तत्व की अधिकता है उसी से देह की उत्पत्ति होना कहते हैं ॥१९॥

न सांसिद्धिकं चैतन्यं प्रत्येकादृष्टेः ॥२०॥

सूत्रार्थ—प्रत्येक अदृष्टे=प्रत्येक भूत में न देखे जाने से, सांसिद्धिकम्=स्वाभाविक, चैतन्यम्=चैतन्य, न=नहीं है।

व्याख्या—सब भूतों की खोज करने पर किसी भी तत्व में चेतन दिखाई नहीं देता, इसलिए संसार का कोई भी मूल तत्व चेतन नहीं माना जा सकता। संसार के मूल तत्व, सत्व, रज, तम तीनों ही अचेतन हैं, उनसे बनने वाला शरीर चेतन नहीं हो सकता, क्योंकि जड़ चेतन नहीं हो सकता और चेतन, अचेतन नहीं बन सकता ॥२०॥

प्रपंचमरणाद्यभावश्च ॥२१॥

सूत्रार्थ—च=और, यदि ऐसा मानें तो, प्रपंचमरणाद्यभावः=अचेतन जगत् का मरना आदि न रहेगा।

व्याख्या—यदि सब भौतिक तत्वों को चेतन मानें तभी शरीर को चेतन कहा जा सकता है, और ऐसा मान लें तो यह दिखाई पड़ने वाला सम्पूर्ण जगत् अदृश्य हो जायगा, क्योंकि कोई भी चेतन तत्व दिखाई नहीं पड़ता है तथा जब सभी तत्व चेतन माने जायेंगे, तब शरीरका जन्म-मरण वाला चक्र भी समाप्त हो जायेगा, क्योंकि चेतन तत्व सदा एक जैसा रहता है, वह कभी नहीं मरता या उत्पन्न नहीं होता। उस अवस्था में बालकपन, जवानी या बुढ़ापा आदि अवस्थाओं का भेद भी न रहेगा ॥२१॥

मदशक्तिवच्चेत् प्रत्येकपरिदृष्टे सौक्ष्म्यात् सांहत्ये-तदुद्भवः ॥२२॥

सूत्रार्थ—चेत=यदि, मदशक्तिवत्=मद की शक्ति के समान, सौक्ष्म्यात्=सूक्ष्म रूप से, प्रत्येक परिदृष्टे=प्रत्येक बार परीक्षण करने पर, सांहत्यें=उनके घोल में, तदुद्भवः=मादकता मिल सकती है।

व्याख्या—जैसे नशे वाली वस्तु के घोल में, उसके हर द्रव्य में मादकता का अंश सूक्ष्म रूप से रहता है, इसी प्रकार मादक द्रव्यों को दूसरी वस्तुओं के घोल में मिलाने पर, उन सब वस्तुओं में मादकता उत्पन्न हो सकती है, यदि ऐसा कहें तो यह ठीक नहीं है। मादकता वाले घोल से शरीर की स्थिति भिन्न है, क्योंकि शरीर के किसी भी भूत में सूक्ष्म रूप से भी चैतन्यता सिद्ध नहीं होती। यदि शरीर के किसी भी अंश को चेतन मानलें तो या तो शरीर का मरना आदि धर्म ही नहीं रहेगा या चेतन को नाशवान् मानना पड़ेगा। परन्तु, चेतन नाशवान् नहीं है और शरीर को मरते हुए प्रत्यक्ष देखते हैं, इससे यही सिद्ध होता है कि शरीर अचेतन ही है ॥२२॥

ज्ञानान्मुक्तिः ॥२३॥

सूत्रार्थ—ज्ञानात्=चेतन-अचेतन का ज्ञान होने पर, मुक्तिः=मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है।

व्याख्या—जब मनुष्य चेतन-अचेतन के भेद को, आत्म साक्षात्कार के द्वारा जान लेता है, उस अवस्था को ज्ञान-प्राप्ति कहा जाता है। यह अवस्था तभी प्राप्त होती है, जब सांसारिक भोगों में आसक्ति नहीं रहती और वैराग्य उत्पन्न हो जाता है। उस समय आत्मा अपने रूप को जानने की इच्छा करता है, फिर निरन्तर अभ्यास के द्वारा अपना स्वरूप-ज्ञान होता है ॥२३॥

बन्धो विपर्ययात् ॥२४॥

सूत्रार्थ—विपर्ययात्=ज्ञान के विपरीत अर्थात् अज्ञान से बन्धः=जन्म मरण का बन्धन होता है।

व्याख्या—अज्ञान से ही जीवात्मा को बन्धन होना माना गया है। क्योंकि सांसारिक भोगों में प्रवृत्त करने वाला अज्ञान ही है, इसके मिटते ही भोगों से विरक्ति हो जाती है और मनुष्य मोक्ष-मार्ग पर बढ़ता ॥२४॥

नियतकारणत्वान्न समुच्चयविकल्पौ ॥२५॥

सूत्रार्थ—नियतकारणत्वात्=नियत कारण होने से, समुच्चय-विकल्पौ=समुच्चय का विकल्प, न=नहीं है।

व्याख्या—मोक्ष-प्राप्ति का कारण निश्चित है अर्थात् ज्ञान होने पर ही मोक्ष हो सकता है, इससे 'समुच्चय' अर्थात् किसी दूसरे कारण का उसमें मिलना सम्भव नहीं है। इसी प्रकार 'विकल्प' अर्थात् कभी किसी कारण से मोक्ष होना और कभी किसी कारण से मोक्ष न होना,

यह भी नहीं हो सकता। यजुर्वेद के 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' के अनुसार 'उस परमात्मा को जानने पर ही मोक्ष मिलता है, दूसरा कोई मार्ग मोक्ष के लिए नहीं है।' इससे सिद्ध होता है कि मोक्ष-मार्ग में समुच्चय या विकल्प नहीं हो सकता ॥२५॥

स्वप्नजागराभ्यामिव मायिकामायिकाभ्यां नोभयोर्मुक्तिः पुरुषस्य ॥२६॥

सूत्रार्थ-मायिकामायिकाभ्याम्=मायिक, अमायिक दोनों से, स्वप्नजागराभ्याम्=स्वप्न और जागृति के, इव=समान, पुरुषस्य=आत्मा का, मुक्ति=मोक्ष, उभयोः=विकल्प समुच्चय दोनों से, न=नहीं है।

व्याख्या—माया से सम्बन्धित कार्य मायिक कहा जाता है। स्वप्न और जागृति दोनों अवस्थायें एक ही समय में नहीं रह सकतीं। जब स्वप्न में हों तब जागना सम्भव नहीं और जागना हो तब स्वप्नावस्था नहीं हो सकती और स्वप्न दिखाई देना वास्तविक या स्थिर नहीं है, इसलिए यहाँ पर स्थिति को मायिक कहा है और जागृति वास्तविक है, उससे सभी तत्वों का प्रत्यक्ष बोध रहता है, इस सत्य अवस्था को अमायिक अर्थात् माया-रहित कहा है। इन दोनों अवस्थाओं का एक साथ होना (समुच्चय) सम्भव नहीं है और स्वप्न की प्रतीति कभी सोते में हो और कभी जागते में हो अथवा जागते में सामने कुछ हो और दिखाई कुछ पड़े इस प्रकार का विकल्प भी सम्भव नहीं है। इसी प्रकार जीवात्मा की मोक्ष प्राप्ति से भी समुच्चय या विकल्प नहीं हो सकता ॥२६॥

इतरस्यापि नात्यन्तिकम् ॥२७॥

सूत्रार्थ—इतरस्य=अन्य की, अपि=भी, आत्यन्तिकम् =अधिकता, न=नहीं है।

व्याख्या—कर्म का अनुष्ठान दो प्रकार का होता है, एक सकाम, दूसरा निष्काम। किसी फल की कामना से किये जाने वाले कर्म सकाम कहे जाते हैं, परन्तु मोक्ष-मार्ग में सकाम कर्म से प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता। इसलिए ऐसे कर्म अत्यन्त फल अर्थात् अत्यन्त पुरुषार्थ के देने वाले नहीं हो सकते। दूसरे जो निष्काम कर्म हैं, वे अधिक महत्वपूर्ण होते हुए भी अत्यन्त पूरुषार्थ में उपयोगी सिद्ध नहीं होते। मोक्ष के लिए तो केवल विवेक ज्ञान अर्थात् चेतन-अचेनन का ज्ञान लेना ही उपयोगी है और ऐसा ज्ञान आत्म-साक्षात्कार के विना सम्भव नहीं है ॥२७॥

संकल्पितेऽप्येवम् ॥२८॥

सूत्रार्थ—संकल्पिते=संकल्पित में, अपि=भी, एवम्=इसी प्रकार समझना चाहिये।

व्याख्या—निष्काम या सकाम कर्मों में जिन देवता आदि की उपासना की जाती है, वे भी मोक्ष प्राप्त कराने में सहायक नहीं हो सकते, परन्तु निष्काम कर्म आध्यात्मिक मार्ग में सहायक हो सकते हैं और उससे मोक्ष-प्राप्ति के साधन रूप आत्म-ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है, परन्तु संकल्प वाले कर्म से सीधे मोक्ष-प्राप्ति नहीं हो सकती ॥२८॥

भावनोपचयाच्छुद्धस्य सर्वं प्रकृतिवत् ॥२९॥

सूत्रार्थ—भावनोपचयात्=भावना की सिद्धि से, शुद्धस्य=शुद्ध चित्त वाले पुरुष को, सर्वं=सम्पूर्ण, प्रकृतिवत्=प्रकृति के समान शक्ति प्राप्त होती है।

व्याख्या—शुद्ध चित्त वाला साधक, साधना के सिद्ध होने पर प्रकृति के समान सामर्थ्य प्राप्त होता है और वह सम्पूर्ण ऐश्वर्य प्राप्त करता हुआ विभिन्न विलक्षण कर्मों को भी कर सकता है, परन्तु मोक्ष

उसे भी नहीं मिल सकता, क्योंकि मोक्ष की प्राप्ति आत्म ज्ञान से ही सम्भव है ॥२६॥

रागोपहतिर्ध्यानम् ॥३०॥

सूत्रार्थ—रागोपहतिः=रोग का नाश, ध्यानम्=ध्यान से हो सकता है।

व्याख्या—विषय-भोगों में आसक्ति होने से अध्यात्मक मार्ग में चित्त नहीं लगता, मोक्ष-प्राप्ति के लिए, पहले विषयों का त्याग आवश्यक है, इसलिए पहले ध्यान किया जाता है, क्योंकि ध्यान अर्थात् ईश्वर चिन्तन से विषयों का नाश हो सकता है ॥३०॥

वृत्तिनिरोधात् तत्सिद्धिः ॥३१॥

सूत्रार्थ—वृत्तिनिरोधात्=वृत्तियों के रोकने से, तत्सिद्धिः =ध्यान की सिद्धि हो सकती है।

व्याख्या—ध्यान में चित्त लगाये रखना भी कोई सरल कार्य नहीं है। वारम्बार चित्त यहाँ से उचट कर पिछले अनुभूत विषयों की ओर दौड़ता है। तब यह आवश्यक है कि विषयों से मन को हटाकर, केवल आत्मा की ओर लगावे, इसी को वृत्तियों का निरोध कहते हैं, इसी से ध्यान में चित्त लगता है ॥३१॥

धारणासनस्वकर्मणा तत्सिद्धिः ॥३२॥

सूत्रार्थ—धारणासनस्वकर्मणा=धारण, आसन और अपने कर्म से, तत्सिद्धिः=वृत्तियों का निरोध हो सकता है।

व्याख्या—धारणा, आसन ओर अपने कर्मों का अनुष्ठान करने से वृत्तियों का रोका जाना सम्भव है। क्योंकि चित्त की वृत्तियाँ बार-बार, ध्यान से हटकर विषयों की ओर दौड़ती है, इसलिए उन्हें रोकने के लिए ही इस प्रकार का अभ्यास करने का निर्देश किया गया है ॥३२॥

निरोधश्छर्दिविधारणाभ्याम् ॥३३॥

सूत्रार्थ—छर्दिविधारणाभ्याम्=छर्दि और विधारणा से, निरोधः=निरोध होता है।

व्याख्या—छर्दि वमन को कहते हैं इस सूत्र में 'छर्दि पद का अभिप्रायः श्वांस को बाहर निकालने से है।'विधारणा' का तात्पर्य श्वांस का धारण करना है। यह दो प्रकार से होता है बाहर से वायु को खींच कर भीतर लेना और फिर उसे रोकना। इस प्रकार वायु को निकालना, खींचना, और रोकना रेचक, पूरक, कुम्भक क्रिया वाला प्राणायाम हुआ। इस प्रकार प्राणायाम करने से भटकता हुआ चित्त वश में होता है, इसी अभ्यास को 'धारणा' कहते हैं ॥३३॥

स्थिर सुखमासनम् ॥३४॥

सूत्रार्थ—स्थिर सुखम् =सुख पूर्वक बैठ सकें वह स्थिति, आसनम्=आसन कहलाती है।

व्याख्या—आसन शरीर की स्थिति को कहा गया है, जिस में ठीक तरह बैठे रहकर ध्यान किया जा सके और जल्दी ही थकान न मालूम हो, ऐसे स्थिर और सुख पूर्वक बैठने से ही चित्त वृत्तियों को रोकने का अभ्यास हो सकता है। योगासनों के अनेक प्रकार शास्त्रकारों ने कहे हैं, परन्तु जो आसन अपने शरीर की स्थिति के अनुकूल हो, उसी आसन पर बारम्बार अभ्यास करना ठीक है ॥३४॥

स्वकर्म स्वाश्रमविहितकर्मानुष्ठानम् ॥३५॥

सूत्रार्थ—स्वाश्रम=अपने आश्रम के लिए, विहित=विधान किये गये, कर्मानुष्ठानम्=कर्म का अनुष्ठान करना ही, स्वकर्म=स्वकर्म कहा जाता है।

व्याख्या—आश्रम चार हैं—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास । इन चारों में से जिस आश्रम में हो, उस आश्रम के नियम के अनुकूल जो कर्मानुष्ठान हो, उसी अनुष्ठान को करना अपना कर्म समझना चाहिए । इस प्रकार आश्रम के विहित कर्मों का करना ही उचित है ॥३५॥

वैराग्यादभ्यासाच्च ॥३६॥

सूत्रार्थ—वैराग्यात् = वैराग्य से, च = और, अभ्यासात् = अभ्यास से कर्म की सिद्धि होती है ।

व्याख्या—प्राणायाम का अभ्यास कर लेने वाले साधकों को सांसारिक विषयों से वैराग्य हो जाता है । योग की सिद्धि के लिये वैराग्य और अभ्यास दोनों आवश्यक हैं । जो लोग विषयों से विरक्त नहीं हुए और प्राणायाम आदि का अभ्यास नहीं करते, उनको कभी योग-सिद्धि नहीं हो सकती ॥

विपर्ययभेदाः पञ्च ॥३७॥

सूत्रार्थ—विपर्ययभेदाः = विपर्यय के भेद, पंच = पांच हैं ।

व्याख्या—ज्ञान का विपर्यय अर्थात् ज्ञान का उल्टा 'अज्ञान' है, उसी से बन्धन होना कहा गया है । इस सूत्र में विपर्यय के पाँच भेद कहे हैं—(१) अविद्या, (२) अस्मिता, (३) राग, (४) द्वेष, और ५) अभिनिवेश । इन विपर्ययों का विवेचन इस प्रकार किया गया है—अविद्या को तामिस्र भी कहते हैं । नाशवान्, अपवित्र, दुःख तथा देह-रूप को नित्य, पवित्र, सुख और आत्मा मानना अविद्या है । जो वस्तु आत्मा से भिन्न है जैसे देह आदि तथा देह के योग-साधन, उन्हें आत्मा मानना 'अस्मिता' अथवा 'मोह' है ! अपने लिए सुख देने वाले दिखाई

पड़ने वाले पदार्थों में आसक्ति होना ही 'राग' अथवा 'महामोह' है। जो पदार्थ अपने अनुकूल न दिखाई दें उनमें विरुद्ध भावना ही 'द्वेष' अथवा 'अन्ध तामिस्र' कही गई है ॥

अशक्तिरष्टाविंशतिधा तु ॥३८॥

सूत्रार्थ—तु=परन्तु, अशक्तिः=अशक्ति, अष्टाविंशतिधा=अट्ठाईस प्रकार की है।

व्याख्या—विपर्यय कारण से अट्ठाईस प्रकार की अशक्ति का होना बताया गया है। आत्मा के भोग आदि की साधन रूप ग्यारह इन्द्रियाँ, नौ तुष्टियाँ और आठ सिद्धियाँ, इस प्रकार यह अट्ठाईस हुई। इस सूत्र में इन्द्रियों का वर्णन किया गया है, इन इन्द्रियों का विघात होने अर्थात् इनके नष्ट होने से बुद्धि विपरीत हो जाती है। जैसे नेत्र के नाश से दिखाई नहीं देता, श्रोत्र के नष्ट होने से सुनाई नहीं देता, पावों के नष्ट होने से चल-फिर नहीं सकता, इस प्रकार यह सब साधन-हीनता आत्म ज्ञान में बाधक होती है, क्योंकि जब तक साधक स्वस्थ्य और निरोग नहीं होगा, तब तक वह योग-साधन नहीं कर सकता।३८।

तुष्टिर्नवधा ॥३९॥

सूत्रार्थ—तुष्टिः=तुष्टि, नवधा=नौ प्रकार की है।

व्याख्या—तुष्टि नौ प्रकार की है, उसका निरूपण सूत्रकार ने आगे चलकर स्वयं किया है। परन्तु, यह तुष्टियाँ भी आत्म-ज्ञान में बाधक हैं क्योंकि, साधक यह 'सन्तोष करले कि मेरी अमुक साधना पूर्ण हो ही चुकी है, अब मुझे कुछ करना बाकी न रहा।' इस प्रकार की भावना से परिश्रम तथा साधन में उपेक्षा उत्पन्न होती है और साधना का अभ्यास छूट जाने की आशंका हो सकती है ॥३९॥

सिद्धिरष्टधा ॥४०॥

सूत्रार्थ--सिद्धिः=सिद्धि, अष्टधा=आठ प्रकार की है।

व्याख्या—योगाभ्यासी साधक को कभी-कभी विचित्र अनुभूतियाँ होती हैं, उन अनुभूतियों को ही सिद्धि समझकर वह उन्हीं में अटक जाता है, उनसे ऊपर क्या प्राप्त करना है, इसका उसे ध्यान ही नहीं रहता। इसलिये यह सिद्धियाँ भी आत्म-ज्ञान की प्राप्ति में बाधा उत्पन्न करने वाली हैं ॥४१॥

अवान्तरभेदाः पूर्ववत् ॥४१॥

सूत्रार्थ--आवान्तरभेदाः=अवान्तरभेद, पूर्ववत्=पहिले कहे गये के अनुसार हैं।

व्याख्या—विपर्यय के अवान्तर भेद पांच ही हैं, जो कि पहले कहे जा चुके हैं. यदि विस्तार से कहें तो बासठ भेद होंगे, जैसे—अविद्या के अव्यक्त, महत्, अहङ्कार और पाँच तन्मात्राएँ, यह आठ भेद हुए, इन आठों का अनात्म में आत्मा मानना जैसे यह मैं हूँ, यह मेरा है, 'अस्मिता' अर्थात् 'मोह' है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध यह पाँच विषय देवताओं और मनुष्यों द्वारा गृहीत होने से दस विषय हो जाते हैं, इन्हीं को राग कहते हैं। 'अविद्या' और 'अस्मिता' के आठं और राग के दस इस प्रकार अठारह हुए, इनके आधार पर द्वेष वृत्ति होने से, 'द्वेष' के अठारह प्रकार हुए, न मरने की इच्छा वाली वृत्ति की अठारह प्रकार की होने से 'अभिनिवेश' के भी अठारह प्रकार हैं। इस प्रकार अविद्या के आठ, अस्मिता के आठ राग के दस, द्वेष के अठारह और अभिनिवेश के अठारह—कुल बासठ भेद हुए ॥४१॥

एवमितरस्याः ॥४२॥

सूत्रार्थ—एवम्=इस प्रकार, इतरस्याः=(विपर्यय से) दूसरी (अशक्ति) के भेद समझने चाहिए।

व्याख्या—अशक्ति के भेद भी इसी प्रकार समझने चाहिए। इसके अट्ठाईस भेद कहे गये हैं, ग्यारह भेद इन्द्रियों के नष्ट होने के आधार पर और सत्रह भेद बुद्धि के नष्ट होने के आधार पर। इसका पूर्ण विवेचन सूत्रकार ने स्वयं, आगे चलकर किया है ।४२॥

आध्यात्मिकादिभेदान्नवधा तुष्टिः ॥४३॥

सूत्रार्थ—आध्यात्मिकादिभेदात्=आध्यात्मिक आदि भेद से, तुष्टिः=तुष्टि, नवधा=नौ प्रकार की है।

व्याख्या—तुष्टि के दो भेद हैं आध्यात्मिक और बाह्य विषयक। आध्यात्मिक तुष्टि चार प्रकार की है प्रकृति, उपादान काल और भाग्य। प्रकृति नामक तुष्टि वह है जिसमें मनुष्य, सब कुछ प्रकृति का परिणाम मानता है और अपना कर्त्तव्य कुछ भी नहीं मानता। उपादान तुष्टि वह है जिसमें सन्यासी का रूप धारण कर लेने से ही मोक्ष की सम्भावना मानता है। काल तुष्टि वह है, जिसमें थोड़ा-बहुत जप-तप करके ही मान ले कि जब समय आयेगा तब स्वयं ही मोक्ष प्राप्त हो जायगा। भाग्य तुष्टि वह है जिसमें समझ लिया जाय कि जब भाग्य में होगा, तब सिद्धि स्वयं हो जायगी। अब बाह्य विषय वाली तुष्टि के पाँच प्रकार बताए जाते हैं—शब्द आदि पाँच विषयों में अर्जन, रक्षण, क्षय, भोग, हिंसा के कारण उत्पन्न हुई भावना से ही सन्तुष्ट होकर बैठ रहने को 'पार' तुष्टि कहते हैं। अर्जन अर्थात् धन आदि इकट्ठा करने में खेती, उद्योग-धन्धे आदि कष्ट देने वाले कार्य करने होते हैं, उनसे उदासीन होने को 'सुपार' तुष्टि कहा है। रक्षा करने पर भी यह पदार्थ नष्ट हो ही जाते हैं, इसलिए रक्षा करने से क्या लाभ है? ऐसी भावना 'पारावार' तुष्टि है। धन-संचय, उसकी रक्षा आदि होने पर भोगों से तृप्ति नहीं होती, इस प्रकार सोच कर कर्म न करना 'अनुतमाम्भ' तुष्टि है। जब वह भावना होती है कि यह सब भोग दूसरों को कष्ट पहुँचाये बिना

नहीं हो सकते, इसलिए विषयों को दूसरों के अहित में समझकर कर्म से विमुख होना 'उत्तमाम्भ' तुष्टि है। इन नौ प्रकार की तुष्टियों द्वारा मनुष्य आत्म-ज्ञान के लिए प्रयत्न नहीं करता, इसीलिए इन्हें मोक्ष प्राप्ति में बाधा देने वाली कहा है ।।४३।।

ऊहादिभिः सिद्धिरष्टधा ।।४४।।

सूत्रार्थ—ऊहादिभिः=ऊह आदि भेदों के द्वारा, सिद्धिः=सिद्धि, अष्टधा=आठ प्रकार की है।

व्याख्या—ऊह, शब्द, अध्ययन, आत्मिकदुःखविघात, भौतिक-दुःखविघात, दैविक दुःखविघात, सुहृत्यप्राप्ति और दान इस प्रकार सिद्धियों के आठ भेद कहे गए हैं। इनमें से आत्मिक, भौतिक और दैविक तीनों दुःखों का नाश होना ही मुख्य सिद्धि माना जाता है, शेष पाँच प्रकार की सिद्धियाँ इन तीनों-मुख्य सिद्धियों की प्राप्ति में साधन मात्र हैं। जब यह साधन रूप सिद्धियाँ, साधक को अपने में ही अटका लेती हैं, तब साधक उन्हीं को परम ध्येय समझकर आत्म ज्ञान प्राप्ति के प्रयत्न को छोड़ बैठता है, इसीलिए उन्हें मोक्ष-मार्ग में बाधक कहा गया है। बिना किसी से उपदेश पाये, पूर्व संस्कारवश सिद्धि में लग जाना ऊह सिद्धि है, दूसरे से सुनकर अपने में ज्ञान होने से सिद्धि होना शब्द सिद्धि है, आचार्य से अध्ययन पूर्वक सिद्धि प्राप्त होना अध्ययन सिद्धि है। आध्यात्मिक दुःख का नाश होना, भौतिक दुःख का नाश होना और दैविक दुःख का नाश होना यह तीनों मुख्य सिद्धियाँ अपने नाम के अनुकूल हैं। अपने घर में ही अनायास उपदेशक के प्राप्त होने से सिद्धि लाभ होना सुहृत्प्राप्ति और धन आदि दान करके सिद्धि लाभ करना 'दानसिद्धि' कहा गया है ।।४४।।

नेतरादितरहानेन विना ।।४५।।

सूत्रार्थ—इतरात्=ऊह आदि सिद्धियों से दूसरी, इतर-

हानेन=विपर्यय आदि की हानि हुए, बिना=बिना, न=प्राप्त नहीं होती।

व्याख्या—विपर्यय, आशक्ति, तुष्टि आदि के नष्ट हुए बिना, ऊह आदि पाँच सिद्धियों से भिन्न जो तीन मुख्य सिद्धियाँ हैं, उनकी प्राप्ति सम्भव नहीं है। परन्तु, ऊह आदि पाँच सिद्धियाँ भी उन मुख्य सिद्धियों की प्राप्ति में सहायक हैं। इसलिए विपर्यय, अशक्ति और तुष्टि आत्म-ज्ञान में बाधक होने से त्याज्य हैं और सिद्धियाँ इस कार्य में उपयोगी हो सकती हैं ॥४५॥

दैवादि प्रभेदा ॥४६॥

सूत्रार्थ—देवादि=(सृष्टि) दैव आदि के, प्रभेद=भेद वाली है।

व्याख्या—दैव आदि के भेद से सृष्टि के तीन भेद माने गये हैं—(१) दैव, (२) तिर्यक, (३) मानुष। इसमें दैव के ब्राह्म, प्राजापत्य, ऐन्द्र, पैत्र, गान्धर्व, याक्ष, राक्षस और पैशाच, यह आठ प्रभेद हैं। तिर्यक् के पशु, पक्षी, मृग, सर्प स्थावर, यह पाँच प्रभेद हैं, और मानुष एक प्रकार का ही है। इस प्रकार सृष्टि के चौदह प्रभेद किये गये हैं ॥४६॥

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं तत्कृते सृष्टिराविवेकात् ॥४७॥

सूत्रार्थ—तत्कृते=उस आत्मा के लिये, आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तम्=ब्रह्मा से स्थावर पर्यन्त, सृष्टिः=सृष्टि, आविवेकात्=जब तक विवेक नहीं होता, तब तक रहती है।

व्याख्या—सम्पूर्ण सृष्टि आत्मा के भोग और मोक्ष को सम्पन्न करने के लिये होती है, और यह तभी तक रहती है, जब तक अविवेक या अज्ञान रहता है विवेक के प्राप्त होते ही इसकी प्रवृत्ति रुक जाती है। इसका तात्पर्य यह है कि जिस आत्मा को ज्ञान हो जाता है उस

आत्मा का सृष्टि से कोई प्रयोजन नहीं रहता । यही इस सूत्र का अर्थ है । ऐसा नहीं समझना चाहिए कि एक आत्मा को ज्ञान उत्पन्न हो और सम्पूर्ण सृष्टि का कार्य ठप हो जाय । हाँ, जब तक ज्ञान नहीं होता, तब तक आत्मा को मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती ॥५७॥

ऊर्ध्वं सत्वविशाला ॥४८॥

सूत्रार्थ—ऊर्ध्वम्=ऊर्ध्वं में, सत्वविशाला=सत्व गुण प्रधान सृष्टि उत्पन्न होती है ।

व्याख्या—ऊपर के लोकों में अथवा उत्तम योनियों में जो सृष्टि होती है, उसमें सतोगुण की प्रमुखता होती है । ऐसी सृष्टि को कुछ विद्वान दैवी सृष्टि भी कहते हैं, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि देवताओं में इस गुण की विशेषता सूत्रकार ने बताई हो । इसका तात्पर्य यही है कि संस्कारवान् उत्तम माता-पिता के यहाँ उत्पन्न होने वाले व्यक्ति आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए वंश परम्परा के कारण आसानी से प्रयत्न कर सकते हैं, श्रेष्ठ माता-पिता अथवा उच्च कुल से ही 'ऊर्ध्वम्' का अभिप्राय है ॥४८॥

तमोविशाला मूलतः ॥४९॥

सूत्रार्थ—मूलतः=नीचे, तमोविशाला=तमोगुणी सृष्टि होती है ।

व्याख्या—निम्न योनियों, निम्न श्रेणियों या निम्न लोकों में तमोगुणी सृष्टि होने का भाव है । चाण्डाल आदि के यहाँ जन्म लेने वाले जन्म-स्वभाव के कारण आत्मज्ञान में तत्पर नहीं हो सकते, क्योंकि वे सदा द्वेष आदि में फँसे रहते हैं और पारस्परिक कलह में अथवा अन्य बुरे कामों में अपना जीवन बिता देते हैं ॥४९॥

मध्ये रजोविशाला ॥५०॥

सूत्रार्थ - मध्ये=बीच में, रजोविशाला=रजोगुण प्रधान सृष्टि उत्पन्न होती है।

व्याख्या—मध्य में अर्थात् भूलोक में रजोगुणी सृष्टि होती है—ऐसा कुछ लोग मानते हैं। परन्तु, इसका यह अर्थ भी है कि मध्यम श्रेणी की सृष्टि रजोगुण वाली है। मनुष्यों को इसी प्रकार की सृष्टि के अन्तर्गत मानते हैं। फिर भी, देखा यह जाता है कि कुछ लोग बहुत ही शान्त विचार के, शुद्ध चित्त वाले, सन्तोषी होते हैं, कुछ लोग तमोगुणी प्रकृति के क्रोधी और द्वेष भावना वाले होते हैं तथा कुछ लोग मिले-जुले स्वभाव के होते हैं। इससे यही मानना चाहिए कि अपने-अपने शुभ-अशुभ कर्मों के अनुसार ही गुणों की न्यूनता या अधिकता होती है। परन्तु सूत्रकार ने साधारण रूप से सब के विषय में ऐसा लिखा है ॥५०॥

कर्मवैचित्र्यात् प्रधानचेष्टा गर्भदासवत् ॥५१॥

सूत्रार्थ—कर्मवैचित्र्यात्=कर्म की विचित्रता से, प्रधान चेष्टा=प्रधान अर्थात् प्रकृति की प्रवृत्ति गर्भदासवत्=गर्भदास के समान है।

व्याख्या—तीनों गुणों के परस्पर विरोधी लक्षण होने के कारण त्रिगुणात्मक प्रकृति की चेष्टा अनेक रूप वाली होती है, क्योंकि, कहीं किसी गुण की अधिकता और किसी की कमी, इसी प्रकार कमी-वेशी के अनुसार ही इसमें विलक्षणता (भिन्न-रूपता) दिखाई देती है। जैसे किसी दास वृत्ति वाले मनुष्य के घर में जन्म लेने वाला व्यक्ति दास वृत्ति में अधिक चतुर हो सकता है, और अपने स्वामी के संकेत पर विविध वस्तुयें उपस्थित करता है, वैसे ही प्रकृति भी जीवात्माओं के भोग के लिए विविध रूप वाले पदार्थ उपस्थित करती है ॥५१॥

आवृत्तिस्तत्राप्युत्तरोत्तरयोनियोगाद्धेयः ॥५२॥

सूत्रार्थ–उत्तरोत्तरयोनियोगात्=एक के बाद एक योनि-जन्म-संयोग से, तत्रापि=इसमें भी, आवृत्तिः=आवागमन बना रहता है, इसलिए, हेयः=(ऊर्ध्व लोक भी) त्याज्य है।

व्याख्या—कुछ लोग सोचते हैं कि ऊपर के लोकों में पहुँचना या ऊँची जातियों में जन्म लेना मोक्ष रूप है, परन्तु उनका यह विचार ठीक नहीं है, क्योंकि, उच्च योनियों में तो आवागमन रहता ही है, किन्तु ऊर्ध्व लोकों में जाकर भी, कर्म-फल रूप सुख भोगकर वहाँ से लौटना पड़ता है। इस प्रकार वहाँ भी आवागमन लगा रहने के कारण उच्च-लोक में जाना या उच्च जातियों में जन्म लेना त्याज्य है ॥५२॥

समान जरामरणादिजं दुःखम् ॥५३॥

सूत्रार्थ जरा-मरणादिजम्=बुढ़ापा और मरना आदि से उत्पन्न, दुःखम्=दुःख, समान=सब योनियों में समान है।

व्याख्या—जो दुःख नीच योनियों या नीचे के लोक में जन्म लेने वालों को होते हैं, वैसे ही कष्ट उच्च-योनियों या उच्च लोकों में जन्म लेने वालों को होते है, क्योंकि बुढ़ापा आदि अवस्थायें और जन्म मरण वहाँ पर भी हैं। तव, इसे मोक्ष रूप नहीं कहते। उच्च लोकों या उच्च योनियों में जाकर भोग रूप सुख की प्राप्ति तो हो सकती है, परन्तु मोक्ष नहीं मिल सकता ॥५३॥

कारणलयात् कृतकृत्यता मग्नवदुत्थानात् ॥५४॥

सूत्रार्थ–कारणलयात्=कारण में लीन होने से, कृत-कृत्यता=कृतार्थ होना, न=नहीं है, मग्नवत्=डूबे हुए के समान, उत्थानात्=उठ जाने से (यही सिद्ध होता है।)

व्याख्या—जैसे जल में डूबा हुआ शरीर, प्राण निकल जाने पर ऊपर तैर आता है, वैसे ही अपने कारण रूप प्रकृति में लीन हुआ जीवात्मा सृष्टि काल में फिर प्रकट हो जाता है। जीवात्मा की यह स्थिति उत्तम होते हुए भी इसे पूर्ण सौभाग्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि, पूर्ण सौभाग्य तो अत्यन्त पुरुषार्थ रूप मोक्ष ही है, जिसकी प्राप्ति आत्मज्ञान के बिना सम्भव नहीं है ॥५४॥

अकार्यत्वेऽपि तद्योगः पारवश्यात् ॥५५॥

सूत्रार्थ—अकार्यत्वे=प्रकृति कार्य नहीं है, अपि=तो भी, तद्योगः=उसका संयोग, पारवश्यात्=परवशता से है।

व्याख्या—यद्यपि प्रकृति कार्य नहीं है, कारण है, परन्तु वह ईश्वर के वश में है, कार्य करने में स्वतन्त्र नहीं है, दूसरे वह अचेतन होने से स्वयं दुःख रूप है, इसीलिए वह चेतन आत्मा को दुःख से छुड़ाने का सामर्थ्य नहीं रखती। इससे सिद्ध हुआ कि मोक्ष का साधन आत्मज्ञान ही है, प्रकृति मोक्ष प्राप्त कराने में समर्थ नहीं है ॥५५॥

स हि सर्ववित सर्वकर्त्ता ॥५६॥

सूत्रार्थ—स=वह, हि=ही, सर्ववित्=सर्वज्ञ, सर्वकर्त्ता सबका रचयिता है।

व्याख्या—किन्तु वह ईश्वर ही सर्वज्ञ अर्थात् सबका जानने वाला और सबका रचयिता है, क्योंकि प्रकृति उसकी प्रेरणा पर कार्य करती हुई सदा उसके आधीन रहती है। इस प्रकार ईश्वर ही मोक्ष का कर्त्ता भी सिद्ध होता है, प्रकृति की आराधना से मोक्ष नहीं मिल सकता ॥५६॥

ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा ॥५७॥

सूत्रार्थ—ईदृशेश्वरसिद्धिः=इस प्रकार ईश्वर का अस्तित्व, सिद्धा=सिद्ध होता है।

व्याख्या—सर्वज्ञ और सर्वकर्त्ता ईश्वर का अस्तित्व निश्चय ही है। इस सूत्र में ईश्वर को सृष्टि उत्पन्न करने वाला अथवा जगत् का उपादान कारण न मानते हुए, प्रकृति को प्रेरणा देने वाले, जगत् के नियन्ता और अधिष्ठाता रूप से ईश्वर को माना है। इस प्रकार सांख्य मत में ईश्वर का सिद्ध रूप मानने से उसका विरोध नहीं है ॥५७॥

प्रधानसृष्टिः परार्थं स्वतोऽप्यभोक्तृत्वात् उष्ट्रकुंकुमवहनवत् ॥५८॥

सूत्रार्थ—उष्ट्रकुंकम-वहनवत्=ऊँट द्वारा कुंकुम (केशर) ढोये जाने के समान, स्वतः=स्वयं, अभोक्तृत्वात्=भोक्ता न होने के कारण, प्रधानसृष्टिः=प्रकृति द्वारा सृष्टि-रचना, परार्थ=दूसरों के लिए, अपि=ही है।

व्याख्या—जैसे ऊँट पर केशर लादी जाती है, उसे वह अपने किसी कार्य के लिए नहीं ढोता, दूसरों के लिए ढोता है, वैसे ही प्रकृति जिस जगत् की रचना करती है, वह अपने लिए नहीं करती, दूसरों अर्थात् जीवात्माओं के लिए करती है, क्योंकि प्रकृति अचेतन है, इसलिए स्वभाव से ही भोगने वाली नहीं है। भोक्ता तो चेतन तत्व ही होता है और चेतन जीवात्मा के लिए ही प्रकृति जगत् से सम्पूर्ण भोग उपस्थित करती है। ५८॥

अचेतनत्वेपि क्षीरवच्चेष्टितं प्रधानस्य ॥५९॥

सूत्रार्थ—अचेतनत्वेपि=अचेतन होने पर भी, क्षीरवत्=दूध के समान, प्रधानस्य=प्रकृति की, चेष्टितम्=प्रवृत्ति होती है।

व्याख्या—यहाँ दूध के उदाहरण से दो बातें समझनी चाहिए—एक तो यह है कि अचेतन दूध बछड़ों और पीने वालों को पुष्ट करता है,

दूसरी यह है कि अचेतन दूध स्वयं दही बन जाता है। दूध की यह प्रवृत्ति अपने लिए नहीं होती, वैसे ही प्रकृति अचेतन होने पर भी जीवात्मा के लिए भोग साधन उपस्थित करती हुई कारण से कार्य रूप में बदलती है ॥५९॥

कर्मवद दृष्टेर्वा कालादेः ॥६०॥

सूत्रार्थ-वा=अथवा, कालादेः=काल आदि की, कर्मवत्=क्रियाओं के समान, दृष्टेः=देखा जाता है।

व्याख्या—काल आदि अर्थात् समय, ऋतु आदि की क्रियायें स्वयं हो जाती हैं। एक ऋतु बीतने पर दूसरी ऋतु स्वयं आ जाती है, वैसे ही प्रकृति इस सृष्टि की रचना का कार्य स्वयं करती है, इसमें उसे किसी के सहयोग की आवश्यकता नहीं होती, केवल, अपने प्रेरक ईश्वर की प्रेरणा से ही वह सब कार्य रूप जगत् को उत्पन्न करती है ॥६०।

स्वभावाच्चेष्टितमनभिसन्धानाद भृत्यवत् ॥६१॥

सूत्रार्थ—अनभिसन्धानात्=बिना स्वार्थ के, भृत्यवत्=सेवक के समान, स्वभावात्=स्वभाव से, चेष्टितम्=(प्रकृति कार्य में) प्रवृत होती है।

व्याख्या—जैसे कोई सेवक अपने स्वामी के प्रत्येक कार्य में निरन्तर लगा रहता है और उस कार्य में उसका अपना कोई लाभ नहीं होता, वैसे ही प्रकृति जीवात्मा के लिए कार्य में लगी रहती है। वह स्वभाव से ही अपने लिए कोई कार्य नहीं करती, सब पदार्थ दूसरे के लिए करती है ॥६१॥

कर्माकृष्टेर्वानादितः ॥६२॥

सूत्रार्थ—वा=अथवा, अनादितः=अनादिकाल से, कर्माकृष्टेः=कर्म के आकर्षण से (ऐसा करती है)।

व्याख्या—अथवा यह कहना चाहिये कि प्रकृति अनादि काल से ही कर्मों के आकर्षण में बँधी हुई, सृष्टि की रचना करने में लगी रहती है। इसका तात्पर्य यह है कि जीवात्मा के लिए भोग की व्यवस्था उसके कर्म से ही है, इसलिए उसके कर्म के अनुसार फल भोग कराने के लिए प्रकृति को उसके अनुसार ही भोग उपस्थित करने होते हैं ॥६२॥

विविक्तबोधात् सृष्टिनिवृत्तिः प्रधानस्य सूदवत् पाके ॥६३॥

सूत्रार्थ—विविक्त बोधात्=आत्म ज्ञान हो जाने से पाके =पाक करने में, सूदवत् – रसोई बनाने वाले के समान, प्रधा-नस्य=प्रकृति को, सृष्टिनिवृत्ति=सृष्टि-रचना से निवृत्ति हो जाती है।

व्याख्या—जैसे रसोई बनाने वाला, रसोई बनाकर कार्य से निवृत्त हो जाता है, वैसे ही आत्मज्ञान हो जाने पर प्रकृति द्वारा सृष्टि रचना का कार्य छोड़ दिया जाता है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि प्रकृति ही सृष्टि रचना से निवृत हो जाती है, किन्तु यह समझना चाहिए कि जिस जीवात्मा को आत्मज्ञान हो जाना है, उसके लिए प्रकृति के कार्य से कोई मतलब नहीं रहता क्योंकि आत्मज्ञान होने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है और मुक्त हुए आत्माओं का जन्म-मरण न होने के कारण प्रकृति से उन आत्माओं का कोई सम्बन्ध नहीं रहता ॥६३॥

इतर इतरवत्तद्दोषात् ॥६४॥

सूत्रार्थ—इतर=उससे भिन्न (बद्ध आत्मा), इतरवत् =दूसरे आत्माओं के समान, तद्दोषात्=उसके दोष से (प्रकृति के सम्पर्क में रहते हैं)।

व्याख्या—मुक्त आत्मा से भिन्न जो बद्ध आत्मा है वह दूसरे बद्ध आत्माओं के संसर्ग-दोष के कारण आत्मज्ञान की इच्छा करने पर भी, आत्मज्ञान नहीं पा सकता और वह उन्हीं बद्ध आत्माओं के समान जीवन-मरण के चक्र में पड़ा रहता है उसका प्रकृति के सृष्टि और विनाश रूपी कार्य से सम्बन्ध नहीं रह पाता ॥६४॥

द्वयोरेकतरस्य वौदासीन्यमपवर्गः ॥६५॥

सूत्रार्थ—द्वयोः=दोनों का, वा=अथवा, एकतरस्य=दोनों में से एक का, औदासीन्यम्=उदासीन हो जाना ही, अपवर्गः=मोक्ष स्वरूप है।

व्याख्या—प्रकृति और पुरुष दोनों ही यदि एक दूसरे से विरक्त हो जायें तो वही मोक्ष स्वरूप होगा, अथवा इन दोनों में से एक चेतन आत्मा ही प्रकृति का सम्पर्क त्याग दे तो मोक्ष की सिद्धि हो सकती है। किन्तु प्रकृति का सम्पर्क तभी छूट सकता है, जब आत्मज्ञान हो जाय, बिना आत्मज्ञान के न तो प्रकृति से छुटकारा मिल सकता है और न मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है ॥६५॥

अन्यसृष्टयुपरागेऽपि न विरज्यते प्रबुद्धरज्जुतत्वस्येवोरगः ॥६६॥

सूत्रार्थ—प्रबुद्धरज्जुतत्वस्य=रस्सी का वास्तविक ज्ञान, होने पर, उरगः=सर्प का भ्रम, इव=(दूर होने के) समान, अन्यसृष्टयुपरागे=अन्य के लिए सृष्टि रचना करने में अपि=भी=विरज्यते=(प्रकृति) उदासीन, न=नहीं होती।

व्याख्या—मुक्त आत्माओं से अन्य अर्थात् बद्ध आत्माओं के लिए, प्रकृति सृष्टि-रचना के कार्य से उदासीन नहीं होती। परन्तु मुक्त आत्माओं के लिए उसका सृष्टि रचना का कार्य नहीं होता। जैसे

रस्सी को सर्प समझकर मनुष्य भयभीत हो जाता है, परन्तु जैसे ही उसे ज्ञान होता है कि यह सर्प नहीं रस्सी ही है, तो वह भय से मुक्त हो जाता है। इसी प्रकार जब तक आत्मा विषयों को ही सुख समझती है, तभी तक उसका प्रकृति से सम्बन्ध रहता है, परन्तु; आत्म ज्ञान के उत्पन्न होते ही, विषयों से विरक्त हो जाती है और उसका प्रकृति के कार्यों से सम्पर्क टूट जाता है ॥६६॥

कर्मनिमित्तयोगाच्च ॥६७॥

सूत्रार्थ—च=और, कर्मनिमित्तियोगात्=कर्म के हेतुओं के संयोग से प्रकृति सृष्टि रचना में लगी रहती है।

व्याख्या—बद्ध आत्माओं के भोगे हुए कर्मों के फल भोग के सम्बन्ध से प्रकृति को रचना कार्य में लगे रहना पड़ता है क्योंकि, कर्म के अनुसार भोग उपस्थित करना प्रकृति का ही कार्य है। मुक्त आत्माओं के लिए प्रकृति की चेष्टा नहीं रहती, क्योंकि मोक्ष से कर्म बन्धनों का पूरी तरह क्षय हो जाता है ॥६७॥

नैरपेक्ष्येऽपि प्रकृत्युपकारेऽविवेको निमित्तम् ॥६८॥

सूत्रार्थ-नैरपेक्ष्ये=अपेक्षा न होने पर, अपि=भी, प्रकृत्युपकारे=प्रकृति के कार्य में, अविवेकः=अज्ञान हो, निमित्तम् =कारण है।

व्याख्या—प्रकृति अचेतन है, इसलिए उसे किसी की आवश्यकता नहीं, वह बिना अपने किसी प्रयोजन के सृष्टि रचना कार्य, दूसरों के लिए निरन्तर करती चली आ रही है। परन्तु प्रकृति के इस कार्य का हेतु अविवेक ही है अर्थात् अज्ञान के कारण ही जीवात्मा प्रकृति के सम्पर्क में आकर जन्म-मरण के चक्र में पड़े रहते हैं ॥६८॥

नर्त्तकीवत् प्रवृत्तस्यापि निवृत्तिश्चारितार्थ्यात् ॥६९॥

सूत्रार्थ—नर्त्तकीवत्=नाचने वाली के समान चारितार्थ्यात्=चरितार्थ होने से, प्रवृत्तस्य=प्रवृत्ति की, अपि=भी, निवृत्तिः=निवृत्ति है।

व्याख्या—जैसे नाचने वाली, थक जाने पर या नाच का कार्यक्रम समाप्त होने पर, नाचने से रुक जाती है, वैसे ही प्रवृत्तिशील अर्थात् कार्य में सदा लगी रहने वाली प्रकृति मुक्त आत्मा के लिए निवृत्त हो जाती है अर्थात् कार्य नहीं करती। क्योंकि मुक्त आत्मा का संसार में आवागमन समाप्त हो जाता है और उनके कर्म का क्षय हो जाने के कारण, भोग उपस्थित करने का कोई कार्य ही नहीं रहता ॥६९॥

दोषबोधेऽपि नोपसर्पणं प्रधानस्य कुलवधूवत् ॥७०॥

सूत्रार्थ—दोषबोधे=दोष का ज्ञान होने पर, अपि=भी कुलवधूवत्=कुलवधू के समान, प्रधानस्य=प्रकृति का, उपसर्गणम्=प्रवृत्त होना, न=नहीं रहता।

व्याख्या—जैसे, किसी कुल-वधू का दोष मालूम हो जाने पर वह लज्जा के कारण अपने स्वामी के सामने जाने में डरती है, वैसे ही प्रकृति का दुःख स्वरूप स्वभाव जान लिया जाने पर, वह ज्ञानी जीवात्मा के पास जाने का साहस नहीं करती। इसका तात्पर्य यही है कि प्रकृति के दुःखात्मक स्वरूप का ज्ञान होने पर ज्ञानी को उससे कुछ सम्पर्क नहीं रहता ॥७०॥

नैकान्ततो बन्धमोक्षौ पुरुषस्याविवेकादृते ॥७१॥

सूत्रार्थ—पुरुषा=पुरुष को, बन्धमोक्षौ=बन्धन और मुक्ति, एकान्ततः=स्वभाव से, न=नहीं होते, अविवेकात्=अविवेक से ही, ऋते=होते हैं।

व्याख्या—जीवात्मा स्वभाव से बन्धन वाला नहीं है, वह मुक्त, शुद्ध, आनन्द स्वरूप है। जिसका बन्धन नहीं होता उसकी मुक्ति का भी प्रश्न नहीं उठता। अविवेक के संयोग से आत्मा को जन्म-मरण रूप बन्धन प्राप्त होता है, जब उसे विवेक हो जाता है, तब उस बन्धन से छूट कर अत्यन्त पुरुषार्थ रूप मोक्ष को प्राप्त करता है ॥७१॥

प्रकृतेराञ्जस्यात ससङ्गत्वात् पशुवत् ॥७२॥

सूत्रार्थ—प्रकृतिः=प्रकृति के, ससङ्गत्वात्=साथ सङ्ग होने से, पशुवत्=पशु के समान, बन्धन और छुटकारा, आञ्ज-स्यात्=प्राप्त होता है।

व्याख्या—प्रकृति के लक्षण दुःख आदि रूप भोग-साधन में लिप्त होने के कारण ही जीवात्मा को बन्धन और मोक्ष की प्राप्ति होती है। जैसे कोई पशु रस्सी द्वारा बँध कर अपने स्वामी के कार्य में प्रवृत्त होता है, तब उसे रस्सी से बँधा हुआ कहते हैं, और जब उसका कार्य पूरा हो जाता है, तब खोल दिये जाने पर वह बन्धन-मुक्त होता है। इसी प्रकार जीवात्मा के बन्धन-मोक्ष को प्रकृति का बन्धन मोक्ष कह दिया जाता है, परन्तु जड़ प्रकृति का बन्धन-मोक्ष नहीं होता, जीवात्मा का ही होता है ॥७२॥

रूपैः सप्तभिरात्मानं बध्नाति प्रधानं कोशकारवद् विमोचयत्येकेन रूपेण ॥७३॥

सूत्रार्थ—कोशकारवत्=रेशम के कीड़े के समान, प्रधा-नम्=प्रकृति, सप्तभिः=सात, रूपैः=रूपों से, आत्मानं बध्नाति =आत्मा को बांधती है और, एकेन=एक, रूपेण=रूप से, विमोचयति=छोड़ देती अर्थात् मुक्त करती है।

व्याख्या—जैसे, रेशम का कीड़ा सब ओर से रेशम के खोल

से ढका रहता है और केवल एक छेद से ही बाहर निकलता है, वैसे ही आत्मा सूक्ष्म शरीर से ढका रहता है। आत्मा की यह गति तब तक बनी रहती है जब तक उसे आत्म-ज्ञान नहीं होता। प्रकृति के धर्म, अधर्म, ज्ञान अज्ञान, वैराग्य, आसक्ति, ऐश्वर्य निर्धनता, यह आठ लक्षण कहे हैं, इनमें से एक ज्ञान को ही ऐसा रूप बताया है जिससे मोक्ष मिलता है, शेष सातों रूप बन्धन में डालने वाले कहे हैं ॥७३॥

निमित्तत्वमविवेकस्य न दृष्टहानिः ॥७४॥

सूत्रार्थ—अविवेकस्य= अविवेक के, निमित्तत्वम्=निमित्त होने से, दृष्टहानिः=देखे हुए की हानि, न=नहीं है।

व्याख्या—बन्ध व मोक्ष अविवेक से होना कहा गया है, उसमें यह शंका होती है कि अविवेक तो कोई वस्तु नहीं है जो बन्धन में डालती हो या मुक्त करती हो। लोक में ऐसा देखा जाता है कि दुःख का नाश सुख से होता है। जो सुखी है वह बन्धन में नहीं होता और जो दुःखी है वह मुक्त नहीं होता तो सुख की प्राप्ति के लिए धर्मादि कार्य किये जाते हैं। इसके विपरीत मानने में इस प्रत्यक्ष बात में असत्यता होती है। इस पर सूत्रकार कहते हैं कि अविवेक बन्ध और मोक्ष में निमित्त मात्र है अर्थात् उसके द्वारा बन्ध और मोक्ष प्राप्त हो सकता है, परन्तु, उसके होने पर धर्म आदि कर्म करने में कोई विरोध नहीं है। क्योंकि विवेक न हो तो धर्मादि कर्म भी व्यर्थ होते हैं, यदि विवेक है तो धर्मानुष्ठान भी मोक्ष में सहायक होते हैं ॥७४॥

तत्वाभ्यासान्नेति नेतीति त्यागाद् विवेक सिद्धिः ॥७५॥

सूत्रार्थ—तत्वाभ्यासात्=आत्म-तत्व का अभ्यास करने से, न इति=यह नहीं है, (ऐसा विचार करते हुए), त्यागात्=

त्याग पूर्वक, विवेकसिद्धि:=ज्ञान की प्राप्ति होती है।

व्याख्या - जब मनुष्य आत्म तत्व का दर्शन करने के अभ्यास में लग जाता है, तब धीरे-धीरे अचेतन शरीर आदि पदार्थों से उसका मोह छूटता जाता है। और जब वह यह समझ लेता है कि यह शरीर आत्मा नहीं है, अर्थात् यह शरीर मैं नहीं हूँ मुझसे भिन्न है, तब वह उस शरीर से सम्बन्धित सब विषयों को छोड़ देता है और शरीर में भी मोह नहीं रखता है। तभी आत्म-ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है ॥७५॥

अधिकारिप्रभेदान्न नियमः ॥७६॥

सूत्रार्थ—अधिकारिप्रभेदात्=अधिकारियों में भेद होने से, नियमः=नियम, न=नहीं है।

व्याख्या—ज्ञान प्राप्ति के अधिकारियों के कई भेद-प्रभेद होने के समान रूप से मोक्ष होने का कोई नियम नहीं है। उत्तम, मध्यम, अधम तीन प्रकार के भेद अधिकारियों में माने गये हैं। इनमें से, एक-से शास्त्रों का अध्ययन करते हुए भी कोई जल्दी ज्ञान प्राप्त कर लेता है, कोई देर से करता है, इसलिए सबको समान रूप से मोक्ष प्राप्ति होने का नियम निश्चित नहीं किया जा सकता ॥७६॥

बाधितानुवृत्त्या मध्यविवेकतोऽप्युपभोगः ॥७७॥

सूत्रार्थ—मध्यविवेकत:=विवेक प्राप्ति के बीच की अवस्था में, अपि=भी, बाधितानुवृत्त्या=बाधाओं की अनुवृत्ति से, उपभोग:=उपभोग बना रहता है।

व्याख्या—विवेक ज्ञान की प्राप्ति का प्रयत्न करते हुए भी अनेक बाधायें आती रहती हैं और देह-सम्बन्धी अनेक कर्मों के करते रहने से उनके फल का उपभोग बना रहता है। अथवा यों कहना

चाहिये कि पहले के संचित जिन कर्मों का फल भोगना शेष रहता है, उनका भोग विवेक होने पर भी क्षीण नहीं होता, बल्कि, भूख, प्यास, आसन। समाधि के रूप में जो कष्ट प्राप्त होता है, वह भोग स्वरूप ही होता है। किन्तु, जब पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जाता है, तब उन संचित कर्मों का क्षय हो जाता है, और आत्मज्ञानी सब बाधाओं से निवृत्त होकर मोक्ष-प्राप्ति करता है। मुक्त होने पर कर्म और भोग का अस्तित्व पूरी तरह समाप्त हो जाता है।

जीवन्मुक्तश्च ॥७८॥

सूत्रार्थ- च=और, वह जीवन्मुक्तः=जीवन में ही मुक्त हो जाता है।

व्याख्या—आत्म-ज्ञान की प्राप्ति होने पर अपने जीवन काल में ही मनुष्य की मुक्त अवस्था मानी जाती है। ऐसे ज्ञानी और मुक्त पुरुष लोक-कल्याण के कार्य में तत्पर रहते हैं और प्राणी-तात्र का उपकार करना अपना धर्म मानते हैं ॥७८॥

उपदेश्योपदेष्ट्टत्वात् तत्सिद्धिः ॥७९॥

सूत्रार्थ--उपदेश्योपदेष्ट्टत्वात्=उपदेश के योग्य और उपदेश करने वाला होने से, तत्सिद्धिः=उसकी सिद्धि है।

व्याख्या—जीवन-काल में ही मुक्त अवस्था होने पर, परोपकार में तो चित्त हो ही जाता है, साथ ही वह उपदेश देने योग्य होकर परमार्थ का उपदेश देने लगता है। ऐसा जीवन मुक्त पुरुष ही आत्म-तत्व को भले प्रकार समझा सकता है, इसलिये विविध शास्त्रों की रचना करने वाले ऋषिगण आत्म तत्वदर्शी ही थे ॥७९॥

श्रुतिश्च ॥८०॥

सूत्रार्थ—च=और, श्रुतिः=श्रुति भी जीवनमुक्त होने का उपदेश करती है।

व्याख्या--श्रुति में भी जीवन-काल में ही मुक्त अवस्था की प्राप्ति का प्रमाण मिलता है। यजुर्वेद (३१-१८) के अनुसार 'ब्रह्म के जानने वाला पुरुष प्रारब्ध कर्म का भोग करता हुआ भी जीवन्मुक्त रहता है इस प्रकार के और भी प्रमाण हैं ॥८०॥

इतरथान्धपरम्परा ॥८१॥

सूत्रार्थ—इतरथ=अन्यथा, अन्ध परम्परा=अन्ध परम्परा की प्राप्ति हो जावेगी।

व्याख्या—यदि आत्मज्ञानी उपदेश देने वाले न हों अर्थात् आत्मज्ञान प्राप्त होते ही वे शरीर से मुक्त हो जायें तो आत्मतत्त्व का यथार्थ विवेचन किस प्रकार होगा? आत्मज्ञानियों के न रहने पर, अज्ञानियों द्वारा उपदेश दिये जाने से संसार में अन्ध परम्परा, मनगढ़न्त धर्म चालू हो जायगा और मोक्ष-मार्ग की व्यवस्था ही समाप्त हो जायगी। इससे जीवन में ही मुक्त अवस्था का होना पूरी तरह सिद्ध होता है ॥८१॥

चक्रभ्रमणवद् धृतशरीरः ॥८२॥

सूत्रार्थ—चक्रभ्रमणवत्=पहिया या चाक के घूमने के समान, धृत शरीरः=जीवनमुक्त पुरुष शरीर धारण किये रहता है।

व्याख्या—जैसे रथ का पहिया, रथ के रोके जाने पर भी चलने के वेग से कुछ क्षण चलता है अथवा कुम्हार द्वारा चाक को घुमा कर छोड़ देने पर भी चाक कुछ देर तक घूमता रहता है, वैसे ही विवेक उत्पन्न होने से, कर्मों का क्षय हो जाने पर भी, यह शरीर कुछ समय तक चलता रहता है। अथवा पुरुष जीवन्मुक्त लोक-कल्याण के लिए कुछ समय के लिये शरीर धारण किए रहते हैं ॥८२॥

संस्कारलेशतस्तत्सिद्धिः ॥८३॥

सूत्रार्थ—संस्कारलेशतः=संस्कार के अंश से,तत्सिद्धिः= जीवन्मुक्त का शरीर धारण करना सिद्धि होता है।

व्याख्या—कर्म-संस्कारों का लेश मात्र भी रह जाने से शरीर धारण करना होता है। जब कर्म-संस्कार का बिल्कुल ही नाश हो जाता है, तब शरीर से मुक्ति मिलती है। इससे सिद्ध होता है कि आत्मज्ञान होने पर संचित कर्मों का क्षय तो हो जाता है, परन्तु प्रारब्ध कर्मों का क्षय नहीं होता। संचित कर्म वे हैं, जिनके करने से भोगों की उत्पत्ति होती है, और प्रारब्ध कर्म वे हैं जिन्हें भोगने के लिए इस शरीर को धारण करना पड़ा है। वे प्रारब्ध कर्म भोग लेने पर ही क्षीण होते हैं और तब शरीर छूटता है ॥८३॥

विवेकान्निशेष दुःखनिवृतौ कृतकृत्यता नेतरान्नेतरात् ॥८४॥

सूत्रार्थ— विवेकात्=विवेक से,निःशेषदुःखनिवृत्तौ=सभी दुःखों की निवृत्ति होने पर,कृतकृत्यता=पूर्ण सिद्धि है,इतरात्= दूसरे से नहीं, इतरात्=दूसरे से नहीं।

व्याख्या—जब आत्म-ज्ञान प्राप्त होने पर सभी दुःखों अर्थात् सभी कर्मों का क्षय हो जाता है, तथा अत्यन्त पुरुषार्थ रूप पूर्ण सिद्धि को पाकर मनुष्य कृतार्थ होता है। पूर्ण कृतार्थता जीवन्मुक्ति से भी नहीं होती, क्योंकि, उसमें प्रारब्ध कर्मों का भोग शेष रह जाता है। इससे सिद्ध हुआ कि मोक्ष प्राप्त करने में ही पूर्ण सुख है, दूसरी किसी भी प्राप्ति में सुख नहीं है। 'इतरात्' पद का दो बार कहा जाना अध्याय की समाप्ति का सूचक है॥

॥ इति तृतीयः अध्याय समाप्त ॥

चतुर्थोऽध्यायः

राजपुत्रवत् तत्वोपदेशाद् ।।१।।

सूत्रार्थ—राजपुत्रवत्=राजपुत्र के समान, तत्वोपदेशात् =तत्वोपदेश होने से विवेक होता है।

व्याख्या—इस सूत्र में राजा के पुत्र के एक कथानक का संकेत है। प्राचीन काल में एक राजा का पुत्र था, वह किसी के साथ निकाल दिया गया था, एक चाण्डाल ने उस सुन्दर राजकुमार को देख कर उसका पालन करने का विचार किया, वह राजपुत्र चाण्डाल के घर में रहते हुए अपने को चण्डाल का पुत्र ही समझने लगा। जब वह कुछ समझदार हुआ तो उसके किसी जानने वाले ने उसे बताया कि 'तू चाण्डाल का पुत्र नहीं, राजपुत्र है' यह सुन कर चाण्डाल होने का भाव छोड़ कर उसने अपना यथार्थ रूप जाना और अपने को राजपुत्र मानने लगा। उसी प्रकार तत्व का उपदेश सुनने से विवेक की प्राप्ति होती है और तब वह समझता है कि मैं संसार में आ गया हूँ, परन्तु, स्वभाव से संसारी नहीं हूँ, अथवा यह देह मैं नहीं हूँ, मैं तो शुद्ध चेतन स्वरूप आत्मा हूँ ।।१।।

पिशाचवदन्यार्थोपदेशेऽपि ॥२॥

सूत्रार्थ—विशाचवत्=पिशाच के समान, अन्यार्थोपदेशे=अन्य का उपदेश होने पर, अपि=भी विवेक होता है ।

व्याख्या—इस सूत्र में पिशाच के उदाहरण से एक आत्मज्ञानी गुरु द्वारा शिष्य को तत्वज्ञान का उपदेश देने का कथा-प्रसग है । एकान्त वन में उन आत्मज्ञानी गुरु ने अपने शिष्य को उपदेश दिया, उस उपदेश को एक पिशाच भी छिपकर सुनता रहा और उसी के अनुसार आचरण करने लगा । उस शिष्य के समान वह पिशाच भी आत्मज्ञानी हो गया । इस प्रकार एक को दिया गया उपदेश, दूसरा सुन ले तो उसे भी आत्म-ज्ञान हो सकता है ।।

आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ॥३॥

सूत्रार्थ—असकृत् बार-बार, आवृत्तिः=दुहराते हुए उपदेशात्=उपदेश से, ज्ञान की सिद्धि होतो है ।

व्याख्या—उपदेश को बारम्बार दुहराना चाहिए । वृहदारण्यक श्रुति (४-५-६) 'ज्ञान प्रसादेन विशुद्धसत्वस्ततवस्तु त पश्यते निष्कल ध्यायमानः" के अनुसार 'ज्ञान के प्रभाव से उस ईश्वर को निरन्तर ध्यान करता हुआ देख पाता है ।' इसी प्रकार गीता में भी "नित्ययुक्ता उपासते" कह कर नित्य प्रति (निरन्तर) उपासना की बात ही कही है । इसी प्रकार अन्य स्थलों पर भी वार-वार अभ्यास करने का उपदेश शास्त्रों में मिलता है । इससे सिद्ध होता है कि ज्ञान का उपदेश लेकर उसका वार-वार मनन करे, तभी आत्मज्ञान की प्राप्ति हो सकती है ॥३॥

पितापुत्रवदुभयोर्दृष्टत्वात् ॥४॥

सूत्रार्थ—पितापुत्रवत्=पिता और पुत्र के समान, उभयोः=दोनों के, दृष्टत्वात्=देखे जाने से विवेक होता है ।

व्याख्या—इस सूत्र में पिता-पुत्र के उदाहरण से यह समझाया गया है कि सही जानकारी होने पर जब भ्रम दूर हो जाता है तब उस अवस्था को विवेक कहते हैं। जैसे कोई पुरुष अपनी गर्भवती स्त्री को घर पर छोड़कर परदेश चला गया और वहाँ कई वर्ष हो गए। जब वह घर लौटा तो पिता को न जानने वाले बालक ने उससे कहा कि 'इस घर में मत घुसना, यहाँ कोई पुरुष नहीं आ सकता।' इस पर पिता को क्रोध आ गया कि 'यह मूर्ख बालक मुझ गृहस्वामी को ही रोकना चाहता है' और वह, यह न जानकर कि यह मेरा ही पुत्र है, उसे झिड़क कर घर में घुस गया। उसके इस व्यवहार पर बालक को क्रोध आ गया और वह, चिल्लाने लगा कि 'अरी माँ! देख यह कौन घुसा चला आ रहा है।' जब पत्नी ने अपने पति को पहचान कर बालक से कहा कि यह तेरे पिता हैं बेटा! इनके चरण छुओ' और पति से बोली कि 'यह आपका ही पुत्र है।' तब पुत्र ने चरण छुये और पिता ने उसे गोद में उठा लिया।' इस प्रकार पिता-पुत्र दोनों को अपने सम्बन्ध का ज्ञान हो गया, वैसे ही विषयों में फँसे हुए मनुष्य सद्गुरु से उपदेश पाकर आत्मा का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं ।।४।।

श्येनवत्सुखदुःखी त्यागवियोगाभ्याम् ।।५।।

सूत्रार्थ—श्येनवत्=बाज के समान, त्यागवियोगाभ्याम् =त्याग और वियोग से, सुखदुःखी=सुखी और दुःखी होता है।

व्याख्या—त्याग में सुख है और वियोग में दुःख। इस पर बाज पक्षी का उदाहरण देते हैं कि जैसे एक बाज किसी पक्षी का माँस लिये चला जाता था, उसे किसी शिकारी ने पकड़ लिया और उससे वह माँस भी छीन लिया। माँस के छिन जाने से (वियोग होने) उसे बड़ा दुःख हुआ और सोचने लगा कि यदि मैं माँस का स्वयं ही त्याग

कर देता अर्थात् उसे उठा कर न लाता, तो क्यों इस प्रकार पकड़ा जाता ? इससे सिद्ध होता है कि किसी वस्तु के वियोग में दुःख और त्याग में सुख है। इसलिए इन दुःख रूप सब सांसारिक वस्तुओं और विषयों का त्याग कर देना ही श्रेयस्कर है ॥५॥

अहिनिर्ल्वयिनीवत् ॥६॥

सूत्रार्थ—अहिनिर्ल्वयिनी=सर्प की केंचुली के, वत्=समान ही विषयों का त्याग करना चाहिए।

व्याख्या—जैसे साँप अपनी केंचुली को अनायास ही छोड़ देते हैं वैसे ही मोक्ष की कामना करने वाले साधकों को सांसारिक विषयों का बिलकुल त्याग कर देना चाहिए। इसीलिए, मुमुक्षुओं को नगर से बाहर निर्जन में रहने का नियम है, क्योंकि, सांसारिक वस्तुओं या विषयों के साधनों के पास रहने से उनका त्याग नहीं हो सकता। जैसे साँप अपनी केंचुली को अपनी वाम्बी के आस-पास छोड़ता और उसका मोह उसे बार-बार उसके पास लाता है, तब केंचुली को देखकर कोई सपेरा ताक में रह कर उसे पकड़ लेता है, वैसे ही विषयों का खिचाव जीवात्मा को बन्धन से नहीं छूटने देता और उसे जीवन-मरण के चक्र में डाले रहता है ॥६॥

छिन्नहस्तवद्वा ॥७॥

सूत्रार्थ—वा=अथवा, छिन्नहस्तवत्=कटे हाथ के समान वासना से सम्बन्ध छूट जाता है।

व्याख्या—जैसे किसी का हाथ कट जाय तो फिर उससे कोई सम्बन्ध उस पुरुष का नहीं रहता, वैसे ही वासना का त्याग कर देने पर त्यागी के साथ उसका सम्बन्ध नहीं रहना चाहिए। इसका तात्पर्य यह

है कि वासनाओं का त्याग करने पर उनसे कोई सम्बन्ध न रखे, नहीं तो वे वासनायें उसे बन्धन में डाले रहेंगी, तब मोक्ष की प्राप्ति सम्भव नहीं होगी। यहाँ कटे हाथ का जो उदाहरण दिया है, उस सम्बन्ध में महाभारत के शान्तिपर्व में एक कथा-प्रसंग है। प्राचीन काल में शंख और लिखित दो भाई तपस्या करते हुए अलग-अलग आश्रमों में रहते थे। एक बार छोटे भाई लिखित अपने बड़े भाई शंख के आश्रम पर गये। उस समय शंख कहीं गये हुए थे और आश्रम सूना था। वहाँ कई वृक्षों पर उत्तम, पके हुए फल लगे देखकर लिखित ने कुछ फल तोड़ कर खा लिए। जब, शंख आश्रम पर लौटे और उन्होंने फलों को वृक्ष पर न देखा तो लिखित से उनके सम्बन्ध में पूछा, तब. लिखित ने फल तोड़ कर खाने की बात बताई। इस पर शंख ने कहा कि 'यह तो एक प्रकार की चोरी है, इसलिए इसका प्रायश्चित करो, नहीं तो तुम्हारी तपस्या में पतन की संभावना हो सकती है।' शंख की बात सुन कर लिखित ने राजा के पास जाकर सब वृत्तान्त सुनाया और अपने लिए दण्ड-व्यवस्था माँगी। राजा ने उसका हाथ काटने का दण्ड दिया। इस कथा-प्रसंग से यह सिद्ध होता है कि साधक को कोई भी कार्य ऐसा नहीं करना चाहिए, जिसमें शरीर-सम्बन्धी वासना हो, अथवा जिससे विषयों को प्रोत्साहन मिलता हो और बुद्धि अकार्य की ओर आकर्षित हो सके, तभी मोक्ष प्राप्ति हो सकती है ॥७॥

असाधनानुचिन्तनं बन्धाय भरतवत् ॥८॥

सूत्रार्थ—भरतवत्=भरत के समान, असाधन=मोक्ष के साधन नहीं है, उनका, अनुचिन्तनम्=सोचना, बन्धाय=बन्ध में डालने वाला है।

व्याख्या—जिन साधनों से आत्मज्ञान की प्राप्ति में बाधा उप-

स्थिति होती है, उनका विचार करने से भी बन्ध से छुटकारा नहीं मिलता। भरत के उदाहरण से यहाँ एक कथा प्रसंग है कि सतयुग में 'भरत' नामक एक राजर्षि थे। वे आत्मज्ञानी अथवा मोक्ष की कामना वाले थे। उन्होंने एक हिरणी के बच्चे को अनाथ समझ कर पाला, परन्तु धीरे-धीरे उस बच्चे में उनका बड़ा मोह हो गया और वे हर समय उसी की सुख सुविधा का ध्यान रखते हुए, उसके पीछे-पीछे फिरने लगे। अन्त में उनका ध्यान उस मृगी के बच्चे में रहने से मुक्ति न हुई और उन्हें हरिण के रूप में पुनर्जन्म लेना पड़ा। इस प्रकार, दया के वश होकर परोपकार करने पर भी बन्धन में पड़ना पड़ा। इससे सिद्ध होता है कि सांसारिक-सम्बन्ध वाले कोई भी कार्य, चाहे वह वासना जनित हैं या परोपकार के लिए हैं मोक्ष चाहने वाले साधकों को त्याग देने चाहिये। क्योंकि, अच्छे कार्य होते हुए भी वह बन्धन में डालने वाले हैं, उनसे विवेकी पुरुष भी मोह में पड़ जाते हैं ॥८॥

बहुभिर्योगे विरोधो रागादिभिःकुमारीशंखवत् ॥९॥

सूत्रार्थ—बहुभिः=बहुतों से, योगे=सम्बन्ध होने पर रागादिभिः=रागद्वेष के कारण, कुमारी शंखवत्=कन्या के शंख धारण करने के समान, विरोधः=विरोध हो जाता है।

व्याख्या—जैसे एक कन्या के हाथ में शंख की बहुत सी चूड़ियाँ आपस में टकराकर शब्द करती हैं, वैसे ही आत्मज्ञानी का भी बहुत व्यक्तियों के साथ सम्बन्ध बना रहने से किसी में प्रेम और किसी से द्वेष होना सम्भव है। क्योंकि, जब किसी एक से अधिक स्नेह किया जाता है, तब जिससे कम किया जाता है, वह चिढ़ने लगता है और जिसके साथ नहीं किया जाता वह तो, शत्रु जैसा ही बन जाता है। इस प्रकार विरोध बराबर बढ़ने लगता है और तब, वह साधक भी राग-

द्वेष के वशीभूत होकर सांसारिक झंझटों में फँस जाता है और अपनी रक्षा करने और अपने विरोधियों को दवाने के लिए, उसे भी छल-कपट से काम लेना पड़ता है। इस प्रकार आत्मज्ञान की दिशा में वढ़ने पर भी उसे पीछे हटना पड़ता है और मोक्ष तो क्या, विवेक की भी प्राप्ति नहीं होती ॥९॥

द्वाभ्यामपि तथैव ॥१०॥

सूत्रार्थ—द्वाभ्याम्=दो के सम्वन्ध से, अपि=भी, तथैव =उसी प्रकार विरोध रह सकता है।

व्याख्या—यदि यह कहें कि वहुत नहीं, दो व्यक्तियों में ही साधन-सम्वन्ध रहे अथवा दो साधक मिलकर एक साथ रहते हुए साधना करें, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि, दो के साथ रहने में भी किसी वात पर विरोध हो सकता है, और वही राग-द्वेष कीं स्थिति आ सकती है। इससे सिद्ध होता है कि मोक्ष की कामना वाले साधक को अकेला ही एकान्त स्थान में रहकर साधना करनी चाहिए ॥१०॥

निराशः सुखी पिंगलावत् ॥११॥

सूत्रार्थ=पिङ्गला=पिङ्गला के, वत्=समान, निराशः =आशा-रहित व्यक्ति, सुखी=सुखी रहता है।

व्याख्या—यहाँ पिंगला नाम की एक वेश्या का दृष्टान्त दिया गया है। प्राचीन काल में एक पिंगला नाम की वेश्या थी, वह अपने प्रेमी के आने की रात-भर जागती रहकर प्रतीक्षा करती रहती थी। जव वहुत दिन इस प्रकार प्रतीक्षा करते-करते बीत गये, तव वह अपनी उस स्थिति से ऊव गई और प्रेमी के आने की आशा छोड़कर सुखपूर्वक रहने लगी, अव उसे किसी प्रकार का संताप न रहा। इसी प्रकार साधकों को भी आशा का त्याग कर देना चाहिए, क्योंकि आशा

का फन्दा साधना को सफल नहीं होने देगा। आत्मज्ञान तो विरक्तों को ही हो सकता है ॥११॥

अनारम्भेऽपि परगृहे सुखी सर्पवत् ॥१२॥

सूत्रार्थ--सर्पवत्=सर्प के समान, अनारम्भे=अपना घर बनाये बिना, अपि=भी, परगृहे=दूसरे के घर में, सुखी=सुखपूर्वक रहता है।

व्याख्या—संसार का त्याग कर देने वाले आत्मज्ञानी को अपना घर या आश्रम नहीं बनाना चाहिए क्योंकि घर आदि बनाने से उसमें गृहस्थ के समान ही आसक्ति उत्पन्न हो सकती है और जहाँ आसक्ति उत्पन्न हुई वहाँ विषयों का प्रकट होना भी सम्भव है। जैसे सर्प अपने रहने के लिये कोई स्थान नहीं बनाता किन्तु जहाँ कोई विल या छेद आदि दिखाई देता है, उसी में घुस बैठता है, वैसे ही साधक भी मकान या मठ आदि बनाने के चक्कर में न पड़कर, जहाँ स्थान मिल सके, वहीं रहने लगे तथा उस स्थान को भी अपना न समझे ॥१२॥

बहुशास्त्रगुरुपासनेऽपि सारादानं षट्पदवत् ॥१३॥

सूत्रार्थ—षट्पद=भौंरा (के) वत्=समान, बहुशास्त्र=अनेक शास्त्र और, गुरुपासने=गुरु की उपासना, अपि=भी, सारादानम्=सार का आदान (ग्रहण) करे।

व्याख्या--जैसे भौंरा बहुत से फूलों से उनका सार रूप रस ले लेता है, वैसे ही, बहुत से शास्त्रों का अध्ययन करके उनका सार रूप ले लेना चाहिये। गुरु की सेवा करते हुए, जब-जब उनके श्रीमुख से उपदेश सुनने को मिले, तब-तब उन उपदेशों में से सारभूत अर्थ को ग्रहण कर ले। इसका तात्पर्य यह है कि अनेक प्रकार के उपदेशों में से,

आत्मज्ञान प्राप्ति के लिए उपयोगी उपदेश को ग्रहण करे, यदि उसमें अपने उद्देश्य से भिन्न कोई बात हो तो उसे छोड़ दे ।।१३।।

इषुकारवन्नैकचित्तस्य समाधिहानिः ।।१४।।

सूत्रार्थ—इषुकारवत्=बाण बनाने वाले के समान, एक-चित्तस्य=एकाग्र चित्त वाले साधक की, समाधि हानिः=समाधि भंग, न=नहीं होती ।

व्याख्या—जैसे कोई वाण बनाने वाला, वाण बनाने के कार्य में इतना दत्तचित्त हो जाता है कि उसके सामने से चाहे कोई बरात निकल जाय या राजा की फौज, उसे उनका कुछ ध्यान नहीं होता, वैसे ही साधक को एकाग्र चित्त होकर साधना करनी चाहिये, क्योंकि एकाग्र चिन्तन से समाधि भंग होने की आशंका नहीं रहती । यदि चित्त एकाग्र नहीं होगा तो वह विषयों की ओर दौड़ेगा और विवेक की प्राप्ति नहीं होगी ।।१४।।

कृतनियमोल्लंघनादानर्थक्यं लोकवत् ।।१५।।

सूत्रार्थ—कृतनियम=निश्चित नियम का, उल्लंघनात=उल्लंघन करने से, लोकवत्=जैसा कि लोक में देखा जाता है आनर्थक्यम्=अनर्थ होता है ।

व्याख्या—साधना के लिए जो नियम निश्चित हैं, उनका पालन करना, साधक के लिए, बहुत आवश्यक है । जैसा कि संसार में देखा जाता है—कोई रोगी, रोग-निवृत्ति के लिए चिकित्सा तो करता है किन्तु पथ्य का ध्यान नहीं रखता अर्थात् खाने-पीने में गड़बड़ी करता है, तो इससे रोग दूर होने की अपेक्षा बढ़ जाता है । इसी प्रकार निश्चित नियम का पालन न करने से, साधक विषयों में फँसकर अपने लक्ष्य से गिर जाता है और उसे विवेक ज्ञान की प्राप्ति में सफलता नहीं मिलती ।।१५।।

तद्विस्मरणेपि भेकवीत् ॥१६॥

सूत्रार्थ – तत्=उसके, विस्मरणेपि=भूल जाने पर भी, भेकीवत्=मेंढ़की के समान, (असफलता होती है)।

व्याख्या—प्राचीन काल में कोई राजा जंगल में शिकार खेलने गया था। उसे वहाँ एक अत्यन्त सुन्दर कन्या ने स्वीकार तो कर लिया परन्तु एक शर्त रखी कि तुम मुझे जल दिखा दोगे, तभी मैं तुम्हारे पास से चली जाऊँगी। राजा ने वह शर्त मान ली और उस कन्या से विवाह कर लिया। कुछ दिन वाद क्रीड़ा से थकी हुई उस रानी ने कहा कि 'जल कहाँ है, मुझे वहाँ ले चलो' राजा को उस शर्त का ध्यान नहीं रहा और उसने रानी को तलैया दिखा दी। उसे देखते ही वह मेंढ़की बनकर जल में घुस गई और राजा नियम भूलने के अपने कार्य पर, पछताने लगा। इसी प्रकार साधन के जो नियम हैं, उनको भूलने पर, साधन में सफलता नहीं मिल पाती ॥१६॥

नोपदेशश्रवणेऽपि कृतकृत्यता परामर्शादृते विरोचनवत् ॥१७॥

सूत्रार्थ—परामर्शादृते=मनन अथवा विचार किये बिना, उपदेशश्रवणे=उपदेश सुनने पर, अपि=भी, विरोचनवत्=विरोचन के समान, कृतकृत्यता=कृतार्थता, न=नहीं है।

व्याख्या—उपदेश सुनकर भी जब तक उसका मनन न किया जाय, तब तक पूर्ण सफलता नहीं मिल सकती। छान्दोग्य में विरोचन और इन्द्र का एक कथा–प्रसंग है—प्राचीन काल में देवता और दैत्य साथ-साथ रहते थे। उन सबके सामने प्रजापति ने कहा कि जो आत्मा सत्य संकल्प, नष्ट न होने वाला अर्थात् अजर-अमर है, उसे जानने वाला

सब लोकों और सब कामनाओं को प्राप्त करता है। यह सुनकर देवताओं ने इन्द्र को और दैत्यों ने विरोचन को अपना-अपना प्रतिनिधि बना कर आत्म-ज्ञान पाने के लिए प्रजापति के पास भेजा। प्रजापति ने उन दोनों को विधिवत् शिष्य बनाकर पानी भरे कटोरे लाने का आदेश दिया और उनके वैसा करने पर प्रजापति ने पानी में देखने की उन्हें आज्ञा दी और पूछा कि पानी में क्या देखते हो, वे दोनों बोले कि लोम से नख तक स्वयं को देख रहे हैं। तब आज्ञा मिली कि 'सुन्दर वस्त्रादि पहनकर फिर देखो'। उन्होंने वैसा ही किया और पूछने पर बताया कि 'अब हम अपने को सजा-सजाया देख रहे हैं।' तब, प्रजापति बोले कि 'बस, यही आत्मा है, यही अमृत है, यही महान् है।' विरोचन ने प्रजापति के मुख से जो सुना, उस पर कुछ मनन नहीं किया और अपने साथी दैत्यों को बताया कि 'यह शरीर ही आत्मा है' यही अजर-अमर है, इसी से दोनों लोकों की प्राप्ति होती है। इससे सिद्ध होता है कि उपदेश सुनकर भी, अब तक उस पर पूरी तरह विचार न किया जाय, तब तक उसका ठीक अर्थ-ज्ञान नहीं होता, जिससे आत्मज्ञान की प्राप्ति नहीं हो पाती ॥१७॥

दृष्टस्तयोरिन्द्रस्य ॥१८॥

सूत्रार्थ—तयोः=उन दोनों में, इन्द्रस्य=इन्द्र की सफलता, दृष्टः=देखी गयी है।

व्याख्या—विरोचन और इन्द्र दोनों में, विरोचन असफल रहा और इन्द्र आत्म-साक्षात्कार में सफल हो गया क्योंकि प्रजापति के उपदेश पर उसने विचार किया कि यह उपदेश आत्मा का अविनाशी होना प्रतिपादित करता है या शरीर का? उसमें जो शंकाऐं उपस्थित हुईं, उनका समाधान उसने फिर प्रजापति से कर लिया। इस प्रकार उपदेश

सुनकर, उसका मनन करना और जो शंका हों उनका समाधान प्राप्त करना ही आत्मज्ञान को प्राप्त कराता है ॥१८॥

प्रणतिब्रह्मचर्योपसर्पणानि कृत्वा सिद्धिर्बहुकालात् तद्वत् ॥१९॥

सूत्रार्थ—तद्वत्=उस इन्द्र के समान, प्रणति=प्रणाम, ब्रह्मचर्य=इन्द्रिय संयम और, असर्पणा=गुरु के पास रहकर अनुष्ठान आदि, कृत्वा=करके, बहुकालात्=बहुत समय से, सिद्धिः=सफलता मिलती है।

व्याख्या—जैसे इन्द्र ने ब्रह्मचर्य पूर्वक गुरु के पास रह कर नमस्कार आदि करते हुए, अनुष्ठान आदि विधियों को करके आत्मज्ञान की प्राप्ति की, उसी प्रकार इन्द्रियों का संयम, गुरु को नमस्कार, उनकी सेवा आदि के द्वारा उन्हें प्रसन्न कर, उसने अपने लक्ष्य की प्राप्ति कराने वाले उपदेशों को सुने और उन क्रियाओं को सीखे, जिनके द्वारा आत्मज्ञान मिल सकता है। इस प्रकार बहुत समय तक अभ्यास करते रहने पर ही सफलता मिल सकती है ॥ १९ ॥

न कालनियमो वामदेववत् ॥२०॥

सूत्रार्थ—वामदेववत्=वामदेव के समान, कालनियमो=समय का कोई नियम, न=नहीं है।

व्याख्या—ज्ञान कितने समय में हो इसका कोई नियत समय नहीं है, न ऐसा ही कोई नियम है कि इस जन्म में साधन किया जाय तो इसी जन्म में ही आत्मज्ञान हो जाय। पूर्वजन्म के संस्कार से भी ज्ञान का उदय हो सकता है। वामदेव ऋषि को जन्म-जन्मान्तरों के संस्कार से गर्भ की अवस्थाई में आत्मज्ञान हो गया था। इसी प्रकार

किसी भी साधक को, उसके साधन की श्रेष्ठता के अनुसार चाहे जब ज्ञान प्राप्त हो सकता है ।।२०।।

अध्यस्तरूपोपासनात् पारम्पर्येण यज्ञोपासकानामिव ।।२१।।

सूत्रार्थ—अध्यस्त=उपदेश किये गये, रूपोपासनात्=रूप की उपासना से, यज्ञोपासकानाम्=यज्ञ और उपासना करने वालों के, इव=समान, पारम्पर्येण=क्रम पूर्वक, (आत्म ज्ञान) प्राप्त होता है।

व्याख्या—इस सूत्र में आत्मा के रूप पर शङ्का का समाधान हुआ है कि जब आत्मा को जानते ही नहीं तो उसका रूप कैसे जान सकते हैं? जब रूप नहीं जानेंगे तो ध्यान कैसे करेंगे? इसका उत्तर यह है कि जैसे यज्ञ करने वाले अथवा उपासना करने वाले साधक अपने साध्य का रूप जाने बिना ही, शास्त्रों में रूप-वर्णन के आधार पर अनुष्ठान या उपासना आदि करते हैं, वैसे ही आत्मज्ञानी द्वारा बताये गये आत्मा के रूप का ध्यान करे। इस प्रकार लगातार ध्यान का अभ्यास करते रहने से क्रम पूर्वक अर्थात् पहिले बहुत थोड़ा ज्ञान, फिर उससे कुछ अधिक और फिर उससे भी अधिक, ऐसे क्रमशः आत्मज्ञान की प्राप्ति होते-होते, अन्त में पूर्ण सफलता मिल जाती है ।।२१।।

इतरलाभेऽप्यावृत्तिः पंचाग्नियोगतो जन्मश्रुतेः ।।२२।।

सूत्रार्थ—इतरलाभे=अन्य के लाभ होने पर, अपि=भी, जन्मश्रुतेः=जन्म सुना जाने से, पंचाग्नियोगतः=पंचाग्नि के योग से, आवृत्तिः=आवृत्ति होती है।

व्याख्या—'इतर लाभ' से तात्पर्य उच्च लोक-स्वर्ग आदि की

प्राप्ति से है। पंचाग्नि उसे कहते हैं, जिसमें चारों ओर लकड़ी जलाली जाँय और ऊपर से सूर्य का ताप पड़ता रहे। इस प्रकार पंचाग्नि वाली उपासना के द्वारा चाहे स्वर्ग या ब्रह्मलोक ही क्यों न मिल जाय, परन्तु इस संसार में फिर लौटकर आना होता है। जिन्हें मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है, उनका संसार में फिर जन्म होना नहीं सुना जाता है ।२२।

विरक्तस्य हेयहानमुपादेयोपादानं हंसक्षीरवत् ।।२३।।

सूत्रार्थ—विरक्तस्य=विरक्त का, हेय हानम्=त्यागने योग्य वस्तु का त्याग और,उपादेयोपादानम्=ग्रहण करने योग्य वस्तु का ग्रहण करना ऐसा ही है. हंसक्षीरवत्=जैसे हंस दूध को ग्रहण करता है।

व्याख्या—संसार में अनेक पदार्थ हैं जिनमें मे विरक्त पुरुष के लिये त्यागने योग्य भी हैं और ग्रहण करने योग्य भी है। जैसे, हंस जल मिले हुए दूध में से केवल दूध ग्रहण कर लेता है और जल को छोड़ देता है, वैसे ही जो वस्तु शरीर रखने के लिए आवश्यक हैं उन्हीं को ग्रहण करना चाहिए जिन वस्तुओं के बिना जीवन-यापन हो सकता है, उनको त्याग देना ही साधक का कर्त्तव्य है ।।२३।।

लब्धातिशययोगात् तद्वत् ।।२४।।

सूत्रार्थ—तद्वत=हंस और दूध के उक्त उदाहरण के समान, लब्धातिशययोगात्=उपलब्धि के अत्यधिक संयोग से भी ज्ञान की प्राप्ति होती है।

व्याख्या—सांसारिक जीवों में केवल हंस को ही यह शक्ति प्राप्त है कि वह पानी मिले दूध में से केवल दूध को ही पीता है, पानी को छोड़ देता है। इसी प्रकार, जिसे संसार से वैराग्य हो जाता है, वही

साधक आत्म ज्ञान की प्राप्ति में सफलता प्राप्त करता है, क्योंकि उसी में यह भावना होती है कि जिस वस्तु की अत्यन्त आवश्यकता है, उसी को ग्रहण करे। जब अन्न बिना नहीं रहा जाता, तभी वह अन्न भक्षण करता है, या प्यास के कारण साधना में बाधा उत्पन्न हो रही है, तभी वह पानी पीता है। इस प्रकार अत्यन्त आवश्यक वस्तु का ग्रहण करते हुए, निरन्तर अभ्यास द्वारा उसे मोक्ष मिलती है ॥२४॥

न कामचारित्व रागोपहते शुकवत् ॥२५॥

सूत्रार्थ - शुकवत्=तोतों के समान, रागोपहते=वासना वाले व्यक्तियों में, कामचारित्वम्=आना-जाना, न=नहीं रखना चाहिये।

व्याख्या—जिस स्थान में जाने से विषयों के बन्धन में पड़ने की आशङ्का हो, उस स्थान में मोक्ष की कामना वाले साधकों को नहीं जाना चाहिए। जैसे तोता अपने दाने-पानी की खोज में इधर-इधर स्वतन्त्रता से घूमता है और फँस जाता है, वैसे ही स्वतन्त्रतापूर्वक चाहे जहाँ जाने-वाला साधक भी, चित्त के चंचल होने पर विषयों में फँस सकता है ॥२५॥

गुणयोगाद्बद्धः शुकवत् ॥२६॥

सूत्रार्थ—शुकवत्=तोते के समान, गुणयोगात्=गुणी के संयोग से, बद्धः=बन्धन में पड़ जाता है।

व्याख्या—जैसे तोता शिकारी के गुण-योग अर्थात् शिकारी द्वारा चुगा फेंकने के कारण उसके जाल में बँध जाता है, वैसे ही वासना-मय वस्तुओं तथा राग-द्वेष आदि में पड़कर साधक भी बद्ध हो जाता है ॥२६॥

न भोगाद्रागशान्तिर्मुनिवत् ॥२७॥

सूत्रार्थ—मुनिवत्=मुनि के समान, भोगात्=भोग से, रागशान्तिः=विषयों की शान्ति, न=नहीं होती ।

व्याख्या—यह कहा जाता है कि विषयों का भोग कर लेने पर इच्छा शान्त हो जाती है, तब उससे विराग हो जाता है । परन्तु यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि विषयों को भोग लेने से, शान्ति नहीं मिलती किन्तु और बढ़ जाती है । यहाँ मुनि का एक दृष्टान्त है कि सौभरि नामक एक मुनि तपस्या करते थे, उन्होंने नदी में स्नान करते समय एक मगर को जल में किलोल करते देखा । उनकी वासना जाग उठी और वे साधना छोड़कर नगर में पहुँचे । वहाँ राजा के द्वार पर जाकर उससे, उसकी कन्याओं की याचना की । जब राज-कन्यायें मिल गईं, तब बहुत वर्षों तक विषय-भोग में पड़े रह कर भी सौभरि की इन्द्रियाँ शान्त न हुईं । इसी प्रकार राजा ययाति ने ;वृद्ध होकर भी अपने एक पुत्र से पौरुष अर्थात् जवानी की शक्ति प्राप्त की । सैकड़ों वर्ष विषयों में रत रहकर भी इच्छा पूर्ण न हुई, तब यह समझ कर कि अन्त समय तक इसी चक्र में पड़े रहे तो मोक्ष की प्राप्ति न हो सकेगी, वैराग्य धारण किया ॥२७॥

दोषदर्शनादुभयोः ॥२८॥

सूत्रार्थ—उभयो=दोनों के, दोषदर्शनात्=दोष देखे जाने से वैराग्य उत्पन्न होता है ।

व्याख्या—आत्मा और शरीर इन दोनों के दोषों को देख कर वैराग्य उत्पन्न होता है । आत्मा जब विषयों में पड़कर दुःख उठाता है तब 'मैं तो शुद्ध चेतन स्वरूप हूँ, मेरा यह आत्मा इस शरीर में आकर

इसके धर्म से दूषित हो गया है, आत्मा अमर है और शरीर नाशवान् है' इस भावना के उदय होने पर वैराग्य की प्राप्ति द्वारा संसार का त्याग होता है ॥२८॥

न मलिनचेतस्युपदेशबीजप्ररोहोऽजवत् ॥२९॥

सूत्रार्थ—अजवत्=राजा अज के समान, मलिनचेतसि मलीन चित्त में, उपदेशबीज=उपदेश रूप बीज का, प्ररोहः= =अंकुर, न=उत्पन्न नहीं होता।

व्याख्या—प्राचीन काल की बात है 'अज' नामक एक राजा अपनी रानी के प्रति बहुत आसक्त था। अकस्मात् रानी की मृत्यु हो गई तो राजा उसके विरह में अत्यन्त व्याकुल रहने लगा। राजगुरु तथा अन्य विद्वानों ने उसे अनेक प्रकार समझाया—देह के नाशवान् होने और आत्मा के अमर होने की बात कही किन्तु, राजा के हृदय पर ज्ञान का कोई प्रभाव नहीं हुआ। इससे सिद्ध होता है कि चित्त में विषयों की भावना रहने से जब तक मलीनता रहती है, तब तक ज्ञान रूपी वृक्ष के लिए उपदेश रूपी बीज का अंकुर पैदा नहीं होता, इसलिए विषयों से चित्त का हटाना ही विवेक प्राप्ति का सुगम उपाय है ॥२९॥

नाभासमात्रमपि मलिनदर्पणवत् ॥३०॥

सूत्रार्थ—मलिन दर्पणवत्=मैले दर्पण के समान, आभासमात्र, अपि=भी, न=नहीं होता।

व्याख्या—जैसे धूल लगे दर्पण में मुख दिखाई नहीं देता, वैसे ही मलीन चित्त में ज्ञान का आभास भी नहीं हो पाता। इसलिए साधक का कर्त्तव्य है कि वह सबसे पहिले विषयों को हटाने की चेष्टा करे, क्योंकि विषयों के रहते हुए मन बारम्बार उधर ही दौड़ता है

और विवेक प्राप्ति के साधन रूप ध्यान आदि में स्थिरता नहीं आती ।३

न तज्जस्यापि तद्रूपता पङ्कजवत् ।।३१।।

सूत्रार्थ—तज्जस्य=उससे उत्पन्न हुए का, अपि=भी, पङ्कजवत्=कीच से उत्पन्न कमल के समान, तद्रूपता=वही रूप होना, न=नहीं सिद्ध होता ।

व्याख्या—जैसे कमल कीच से उत्पन्न होता है, कमल का रूप दूसरा है और कीच का दूसरा, अर्थात् उनका रङ्ग-रूप एक सा नहीं है, वैसे ही, आत्मज्ञान प्रकृति से उत्पन्न होता है, किन्तु, आत्मज्ञान और प्रकृति का रूप एक जैसा नहीं होता । सांख्य मत में प्रकृति को भोग और मोक्ष के साधनों को उपस्थित करने वाली माना है, इसलिए इस सूत्र में भी आत्मज्ञान का प्रकृति से उत्पन्न होना कहा है । परन्तु. प्रकृति दुःख रूप है, और मोक्ष में दुःख का आभास नहीं होता । कुछ विद्वानों ने इस सूत्र का भावार्थ यह भी किया है कि मलीन चित्त होकर, गुरु का उपदेश टिकता नहीं, यदि कुछ ज्ञान हो भी जाय तो वह ऐसा नहीं होता, जिससे मोक्ष की प्राप्ति हो सके ।।३१।।

न भूमियोगेऽपि कृतकृत्यतोपास्यसिद्धिवदुपास्यसिद्धिवत् ।।३२।।

सूत्रार्थ—उपास्यसिद्धिवत्=उपास्य से प्राप्त सिद्धि के समान, भूमियोगे=ऐश्वर्य योग में, अपि=भी, कृतकृत्यता=कृतार्थता, न=नहीं है ।

व्याख्या—विभिन्न देवताओं की उपासना करने पर जो सिद्धि प्राप्त होती है, उससे सांसारिक भोगों की प्राप्ति हो सकती है, परन्तु, पूर्ण कृतार्थता अर्थात् मोक्ष प्राप्ति नहीं होती । इसी प्रकार ऐश्वर्य वाले स्वर्ग आदि लोकों की प्राप्ति के लिए जो अनुष्ठान, जप, तप, आदि

किये जाते हैं उनसे उन उन लोकों की प्राप्ति तो हो जाती है, परन्तु, अत्यन्त पुरुषार्थ रूप मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। स्वर्ग आदि लोकों के विभिन्न एवं दिव्य ऐश्वर्यों को भोग लेने पर, पुनः संसार में लौटना होता है, क्योंकि ऐश्वर्य लोकों की प्राप्ति के लिये किये गये कर्म, भोग के बाद क्षय को प्राप्त हो जाते अर्थात् मिट जाते हैं, इसलिए न मिटने वाला तो आत्म ज्ञान ही है; जिससे मोक्ष मिल सकता है। 'उपास्य-सिद्धिवत्' का दो बार कहा जाना अध्याय समाप्ति का सूचक है ॥३२॥

॥ इति : चतुर्थोऽध्याय समाप्त ॥

पंचमोऽध्यायः

मंगलाचरणं शिष्टाचारात् फलदर्शनाच्छ्रुतितश्चेति ।।१।।

सूत्रार्थ–शिष्टाचारात् = शिष्ट पुरुषों के आचरण से, फल-दर्शनात्=उनका फल देखे जाने से च=और, श्रुतितः=श्रुति के प्रमाण से, मंगलाचरणम्=श्रेष्ठ आचरण ही उचित है।

व्याख्या—साधक को श्रेष्ठ आचरण करना चाहिए। अपने शरीर से दूसरों का कोई कार्य सिद्ध हो सके और वह न्याय तथा धर्म से उचित हो, ऐसे लोक-कल्याणकारी कार्यों का करना ही उचित है। यह ठीक है कि विवेक से मोक्ष मिलता है, परन्तु हमारे सामने ही कोई किसी की हत्या करने को तैयार है और हम उसकी रक्षा करने में समर्थ हैं तो उसकी रक्षा करना न्याय से भी उचित है। इसका एक तात्पर्य यह भी है विवेक प्राप्ति के प्रयत्न में शुभ कर्मों का अनुष्ठान करे। शिष्ट पुरुषों-ऋषियों, सन्तों, महापुरुषों सभी के आचरण से शुभ कर्म करना ही श्रेयस्कर सिद्ध होता है। उन्होंने जो शुभ कर्म किये, उनका फल भी शुभ हो हुआ। यह बात संसार में देखी जाती है कि

बुरा कार्य करने वाले पहिले चाहे फलते-फूलते रहें परन्तु, अन्त में उन्हें बुरा फल भोगना पड़ता है। श्रुति के प्रमाण से भी, यही सिद्ध होता है। यजुर्वेद के 'देवो वः सविता प्रापयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे" से श्रेष्ठ कर्म करने का ही उपदेश मिलता है ।।१।।

नेश्वराधिष्ठिते फलनिष्पत्तिः कर्मणा तत्सिद्धेः ।।२।।

सूत्रार्थ—कर्मणा = कर्म के द्वारा, तत्सिद्धेः = फल की सिद्धि होने के कारण, ईश्वराधिष्ठिते = ईश्वर को अधिष्ठाता मानने पर, फलनिष्पत्तिः = फल की सिद्धि, न = नहीं होती।

व्याख्या – जो लोग ईश्वर को अधिष्ठता मान कर उसे ही कर्म का फल देने वाला बताते हैं, उनका कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जो कर्म किये जाते हैं, उनका फल मिलना आवश्यक है. इसलिए ईश्वर फल देने में कर्मों की उपेक्षा कैसे कर सकता है ? यदि नहीं कर सकता तो ईश्वर को कर्मों का फल देने वाला भी नहीं माना जा सकता। इससे सिद्ध होता है कि कर्म से ही फल उत्पन्न होता है अर्थात् फल का देने वाला कर्म ही है ।।२।।

स्वोपकारादधिष्ठानं लोकवत् ।।३।।

सूत्रार्थ—स्वोपकारात् = अपने उपकार से, लोकवत् = लोक के साधारण मनुष्य के समान, अधिष्ठानम् = ईश्वर को बना देता है।

व्याख्या—यदि ईश्वर को फल देने वाला कहें तो वह कर्म की उपेक्षा करके चाहे जिसे, जैसा फल दे सकता है। इससे ईश्वर पर यह आरोप लगेगा कि उसने अपने प्रिय जनों (भक्तों) को श्रेष्ठ फल दिया है और अप्रिय जनों अर्थात् जो भक्त नहीं है, उनको बुरा फल दिया है। तब जैसे संसारी मनुष्य अपने आत्मीय जनों का हित करता

है और जिनसे द्वेष है, उनका अहित करता है, वैसी ही भावना वाला ईश्वर हो जायगा और तब उसे पूर्ण काम, पूर्ण संकल्प, आनन्दघन, अविनाशी आदि बताना मिथ्या सिद्ध होगा। इससे यही मानना चाहिए कि कर्म ही फल को उत्पन्न करता है, वही फल देता है, ईश्वर नहीं देता ॥३॥

लौकिकेश्वरवदितरथा ॥४॥

सूत्रार्थ—इतरथा=अन्यथा वह, लौकिकेश्वर=संसार के किसी राजा के, वत्=समान हो जायगा।

व्याख्या—यदि ईश्वर को पूर्ण काम, सत्य-सङ्कल्प, अविनाशी आदि न मानें तो उसे किसी राजा के समान मानना पड़ेगा, क्योंकि राजा मनुष्यों का शासक होने से निन्दित कर्म का दण्ड रूप फल और श्रेष्ठ कर्म का पुरुस्कार रूप फल देता है। परन्तु, उस दण्ड या पुरुस्कार में कभी कभी अपने, पराए का विचार भी हो जाता है अथवा ठीक प्रमाण न मिलने पर उल्टा-सीधा निर्णय हो जाता है। वैसे ही कार्य वाला ईश्वर भी सिद्ध होगा और तब उसे रागी मनुष्य के समान ही समझना होगा ॥४॥

पारिभाषिको वा ॥५॥

सूत्रार्थ—वा=अथवा, पारिभाषिक:=कहने मात्र का ईश्वर होगा।

व्याख्या—ईश्वर को कर्म फल देने वाला मानने पर, वह ईश्वर ही नहीं रहेगा, किन्तु नाम मात्र का ईश्वर होगा, क्योंकि, ईश्वर के जो लक्षण श्रुतियों ने कहे हैं, उनसे इस ईश्वर को विरूपता अर्थात् दूसरे लक्षण होंगे और ईश्वर को जगत् का नियामक मानना भी संभव

न होगा । फिर तो यही कहना पड़ेगा कि ईश्वर का कोई अस्तित्व नहीं है और कुछ स्वार्थियों ने ईश्वर की कल्पित मूर्ति खड़ी कर ली है ॥५॥

न रागादृते तत्सिद्धिः प्रतिनियतकारणत्वात् ॥६॥

सूत्रार्थ–प्रतिनियतकारणत्वात्=प्रत्येक का नियत कारण होने से, रागादृते=राग के बिना, तत्सिद्धिः=ईश्वर की सिद्धि, न=नहीं है ।

व्याख्या—कार्य की उत्पत्ति का कारण नियत है । प्रत्येक कार्य अपने-अपने कारण से उत्पन्न होता और उसी में लीन हो जाता है । इस प्रकार कार्य अथवा राग के विना प्रकृति की प्रवृत्ति नहीं होती और ईश्वर ही प्रवृत्ति को कार्य के लिए प्रेरित करता है । इस प्रकार राग अर्थात प्रकृति के सिद्ध होने से ही उसके प्रेरक ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध होता है ॥६॥

तद्योगेऽपि न नित्यमुक्तः ॥७॥

सूत्रार्थ—तद्योगे=प्रकृति के संयोग से, अपि=भी, नित्यमुक्तः=ईश्वर नित्य और मुक्त स्वरूप, न=नहीं रहता ।

व्याख्या—सत्व, रज, तम् इन तीनों गुणों की समान अवस्था प्रकृति है, यह पहिले भी वता चुके हैं । इस प्रकृति का नित्य और मुक्त होना सम्भव नहीं है, तब इस प्रकृति से सम्पर्क होने पर ईश्वर भी नित्य मुक्त नहीं रहता, यह शंका निर्मूल है क्योंकि अचेतन से चेतन के लक्षण दूसरे हैं । जो लक्षण अचेतन प्रकृति के हैं, उनसे विपरीत लक्षण चेतन ईश्वर के होंगे । इससे यही सिद्ध होता है कि ईश्वर नित्य मुक्त है, परन्तु, प्रकृति के यह लक्षण नहीं हैं ॥७॥

प्रधान शक्तियोगाच्चेत् संगापत्तिः ॥८॥

सूत्रार्थ—प्रधान शक्तियोगात्=प्रकृति रूप शक्ति के

संयोग से, चेत्=यदि मानें तो उसमें, संगापत्तिः=संग-दो उपस्थित होता है।

व्याख्या—ईश्वर का प्रकृति रूपी शक्ति से संयोग होने पर संसार की सृष्टि का होना मानें तो यह मान्यता ठीक नहीं है क्योंकि इससे ईश्वर में भी संसर्ग-दोष की उत्पत्ति होगी और ईश्वर को श्रुति ने भी असङ्ग कहा है। "सयत्तत्र पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवत्यसङ्गोह्ययं पुरुषः" अर्थात् "जो विवेकी पुरुष आत्मज्ञान होने पर ईश्वर को असंग जानता है (वही ठीक जानता है)" इस प्रकार ईश्वर और प्रकृति का संयोग सिद्ध नहीं होता ॥८॥

सत्तामात्राच्चेत् सर्वैश्वर्यम् ॥९॥

सूत्रार्थ—सत्तामत्रात्=केवल अपनी सत्ता से, चेत्=यदि ईश्वर को जगत् का उत्पन्न करने वाला मानें तो, सर्वैश्वर्यम्=सम्पूर्ण विश्व ही ईश्वर हो जायगा।

व्याख्या—यदि ऐसा मानें कि केवल ईश्वर अपनी ही सत्ता से संसार को उत्पन्न करता है और वह प्रकृति आदि अन्य किसी का भी सहयोग नही लेता, तो ऐसा मानना भी अनुचित है, क्योंकि मूल उपादान अर्थात् जिससे किसी वस्तु की उत्पत्ति हो, वह अपने समान ही उत्पत्ति करेगा। जैसे-मनुष्य से मनुष्य पैदा होता है, हाथी से हाथी होता है, मनुष्य से हाथी पैदा नहीं हो सकता और हाथी से मनुष्य नहीं हो सकता वैसे ही ईश्वर से ईश्वर ही उत्पन्न होना चाहिए। इस प्रकार मानने से, ईश्वर से उत्पन्न होने वाला सम्पूर्ण जगत ईश्वर ही होना चाहिए। इससे यह मान्यता ठीक नहीं है—यह सिद्ध होता है ॥९॥

प्रमाणाभावान्न तत्सिद्धिः ॥१०॥

सूत्रार्थ—प्रमाणाभावात्=प्रमाण के अभाव से, तत्सिद्धिः

=ईश्वर की सत्ता से जगत् के उत्पन्न होने की सिद्धि, न= नहीं होती।

व्याख्या—ईश्वर अपनी सत्ता से ही इस जगत् का उपादान कारण (उत्पन्न करने वाला) है, यह सिद्धान्त, प्रमाण न होने से सिद्ध नहीं होता। प्रमाण तीन प्रकार के हैं, यह पहिले ही कहा जा चुका है—प्रत्यक्ष, अनुमान और शास्त्र। ईश्वर जगत् का मूल-उपादान कारण है, इस पक्ष में किसी भी प्रकार का प्रमाण उपलब्ध नहीं है ॥१०॥

सम्बन्धाभावान्नानुमानम् ॥११॥

सूत्रार्थ—सम्बन्धाभावात्=सम्बन्ध का अभाव होने से, अनुमानम्=अनुमान की भी सिद्धि, न=नहीं है।

व्याख्या—ईश्वर का जगत् से उसका उपादान कारण होने वाला सम्बन्ध है ही नहीं, क्योंकि सभी वस्तुएँ अपने-अपने सजातीय पदार्थ से ही उत्पन्न हुई देखी जाती हैं, जैसे मिट्टी से घड़ा बनेगा, मिट्टी से वस्त्र नहीं बन सकता। इस प्रकार अपने-अपने सजातीय पदार्थों से ही सब पदार्थों की उत्पत्ति का प्रत्यक्ष प्रमाण मिलता है, तब अनुमान द्वारा इस मान्यता की सिद्धि हो ही नहीं सकती ॥११॥

श्रुतिरपि प्रधानकार्यत्वस्य ॥१२॥

सूत्रार्थ—श्रुतिः=श्रुति में, अपि=भी प्रधानकार्यत्वस्य =जगत् प्रकृति का ही कार्य है, ऐसा कहा गया है।

व्याख्या—सांख्यमत में ईश्वर को जगत् का उपादान कारण नहीं माना है, किन्तु उसे जग-नियन्ता और अधिष्ठाता स्वीकार किया है और प्रकृति को ही जगत् का मूल उपादान कारण कहा है। इस प्रकार ईश्वर जगत् का निमित्त कारण है। श्रुति में 'साक्षी चेता केवलो

निर्गुणश्च" अर्थात् ईश्वर साक्षी, चेतन स्वरूप और निर्गुण है ऐसा कहा है। ऋग्वेद (१-१६४-२०) "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया" इत्यादि के अनुसार वृक्ष पर रहने वाले दो पक्षी परस्पर मित्र हैं, उनमें से एक स्वादिष्ट फल खाता है और दूसरा कुछ न खाता हुआ, केवल देखता है।' इनमें जीवात्मा और परमात्मा दो पक्षी बताये हैं, खाने वाला अर्थात् भोगने वाला जीवात्मा है, किन्तु परमात्मा को केवल देखने वाला कहकर उसे संग रहित सिद्ध किया है। इससे, यही मान्यता ठीक है कि यह जगत् प्रकृति का ही कार्य है, ईश्वर का नहीं है ॥१२॥

नाविद्याशक्तियोगो निःशंगस्य ॥१३॥

सूत्रार्थ—निसङ्गस्य=संग-रहित का, आविद्याशक्तियोगः =अविद्या रूप शक्ति से सम्बन्ध, न=नहीं, हो सकता।

व्याख्या—ईश्वर असंग है अर्थात् उसकी एकता किसी के साथ नहीं है। जो असंग है, वह चेतन भी है अविद्या अचेतन है, उसका सम्बन्ध चाहे जिससे हो सकता है, इसलिए अविद्या और ईश्वर का सम्वन्ध कभी नहीं हो सकता। इस सम्वन्ध में श्रुति प्रमाण "द्वा सुपर्णा सयुजा" इत्यादि ऊपर के सूत्र की व्याख्या में दे चुके हैं ॥१३॥

तद्योगे तत्सिद्धौवन्यौन्याश्रयत्वम् ॥१४॥

सूत्रार्थ—तद्योगे=अविद्या से संयोग मानने पर, तत्सि-द्धौ=अविद्या की सिद्धि होने से, अन्योन्याश्रयत्वम्=परस्पर में आश्रय होना सिद्ध होता है।

व्याख्या—अन्य वस्तु का अन्य वस्तु रूप दिखाई देना अविद्या है। जैसे घड़ा है और दिखाई दे कि यह वस्त्र है, इस प्रकार के भ्रम को अविद्या कहते हैं। ऐसे विकार वाली अविद्या के साथ ईश्वर का सम्वन्ध

हो तो वह ईश्वर भी विकार वाला हो जायगा। इस प्रकार, अविद्या से संयोग होने पर ईश्वर का अविद्या रूप होना सिद्ध होने से एक दूसरे के आश्रित होने का दोष उपस्थित हो जायगा ॥१४॥

न बीजांकुरवत् सादिसंसारश्श्रुतेः ॥१५॥

सूत्रार्थ—बीजांकुरवत्=बीज के अंकुर के समान, यह, सादि=उत्पन्न होने वाला, संसार=जगत्, श्रुतेः=श्रुति कहती है, इसलिये इसमें अन्योन्याश्रित दोष, न=नहीं होगा।

व्याख्या—यदि यह शङ्का करें कि बीज से अंकुर की उत्पत्ति और अंकुर से बीज की उत्पत्ति होती है, इसमें एक-दूसरे का आश्रय सम्बन्ध का दोष नहीं बनता तो यह शङ्का निर्मूल है, क्योंकि बीज और अंकुर तो अनादि क्रम वाले पदार्थ हैं, बीज से अंकुर और अंकुर से बीज यह क्रम लगातार चलता ही रहेगा। यह उत्पन्न होने वाला संसार 'स-आदि' कहने से, अनादि सिद्ध नहीं होता। श्रुति भी ऐसा ही कहती है। ऋग्वेद (१०-८१-३) 'सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देव एकः'' के अनुसार वे एक विश्वकर्मा अपने बाहु और चरणों से द्यावापृथिवी को प्रकट करते हैं'। इससे सिद्ध होता है कि संसार उत्पन्न होने वाला है ॥१५॥

विद्यातोऽन्यत्वे ब्रह्मबाधप्रसंगः ॥१६॥

सूत्रार्थ – विद्यातः=विद्या से, अन्यत्वे=अन्य होने पर, ब्रह्म-बाध,प्रसङ्गः=ब्रह्म की बाधा का प्रसंग उपस्थित होता है।

व्याख्या—यदि ऐसा मानें कि विद्या से भिन्न जो अविद्या है, वह अनादि है तथा उसका अस्तित्व भी अलग है और उसी के सहयोग से ईश्वर जगत् का उपादान कारण है, तो उसी तत्व को जगत् का

उपादान कारण प्रत्यक्ष रूप से मानना होगा और ईश्वर को जगत् का उपादान मानने में स्वतः बाधा उपस्थित हो जायगी। अथवा विद्या से भिन्न सब वस्तुओं को अविद्या मानें या अविद्या को विद्या का नाश करने वाली मानें तो ईश्वर का नष्ट होना भी मानना होगा, क्योंकि वह भी अविद्या से भिन्न और विद्या रूप है, इस प्रकार ब्रह्म की मान्यता में भी बाधा उपस्थित होगी ॥१६॥

अबाधे नैष्फल्यम् ॥१७॥

सूत्रार्थ—अबाधे=बाधा न होने पर, नैष्फल्यम्=अविद्या का फल रहित होना सिद्ध होता है।

व्याख्या—यदि विद्या से भिन्न तत्व अविद्या को अनादि मान कर उसके साथ ईश्वर का संयोग मानते हुए भी ब्रह्म को ही जगत् का उपादान कारण मान लें, तो फिर अविद्या का एक ऐसा स्वरूप मानना ही व्यर्थ है। यदि ईश्वर ही उपादान कारण है तो अविद्या अथवा अचेतन प्रकृति की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती ॥१७॥

विद्या बाध्यत्वे जगतोऽप्येवम् ॥१८॥

सूत्रार्थ—विद्याबाध्यत्वे=(यदि) विद्या से, अविद्या की बाधा हो जाती है तो, जगत्ः=जगत को, अपि=भी, एवम्= इस प्रकार बाधा हो जाती है।

व्याख्या—यदि ऐसा मानलें कि विद्या से अविद्या की प्रतीति नहीं रहती, तब किसी एक व्यक्ति को ही विद्या रूप ज्ञान की प्राप्ति होने पर अविद्या के कार्य रूप जगत् की भी प्रतीति न रहेगी। इसका तात्पर्य यह है कि ज्ञान होने से ही अज्ञान रूप प्रकृति का नाश हो जाय तो उसके साथ उसके द्वारा उत्पन्न जगत् भी नष्ट हो जायगा। इससे विद्या अविद्या के लिए बाधा रूप सिद्ध नहीं होती ॥१८॥

तद्रूपत्वे सादित्वम् ॥१६॥

सूत्रार्थ—तद्रूपत्वे=जगत् रूप होने से, सादित्वम्=अविद्या का उत्पन्न होना सिद्ध है।

व्याख्या—अविद्या को जगत् का रूप मानने पर, अविद्या को भी जगत् के समान ही उत्पन्न होने और नष्ट होने वाला मानना पड़ेगा और इस प्रकार मान लेने पर अविद्या को अनादि अर्थात् आदि-अन्त-रहित कैसे माना जा सकता है? इस प्रकार अविद्या का अनादि होना सिद्ध नहीं होता ॥१६॥

न धर्मापलापः प्रकृतिकार्यवैचित्र्यात् ॥२०॥

सूत्रार्थ—प्रकृति कार्यवैचित्र्यात्=प्रकृति के कार्य विचित्र रूप वाले होने से, धर्मापलापः=धर्म की उपेक्षा, न=सिद्ध नहीं होती।

व्याख्या—प्रकृति के कार्य विभिन्न रूप वाले हैं अर्थात् सत्व, रज, तम्, इन तीनों गुणों की विभिन्नता के कारण प्रकृति की जो रचना होती है वह विभिन्न रूपों में होती है। इसलिए वहाँ आत्मा जो शुभ या अशुभ कर्म करता है उनके परिणाम रूप में उसे अच्छा या बुरा फल भोगना पड़ता है, उन्हीं कर्मों के आधार पर उसके लिए अनुकूल या प्रतिकूल धर्म वाले साधन भी उपलब्ध होते रहते हैं। इस प्रकार इन कर्मों में धर्म की उपेक्षा नहीं है। अथवा यों मानना चाहिए कि कर्म ही धर्म है और प्रकृति की रचना में धर्म भी निमित्त रूप हैं ॥२०॥

श्रुतिलिंगादिभिस्तत्सिद्धिः ॥२१॥

सूथार्त्र—श्रुतिलिंगादिभिः=श्रुति प्रमाण और लक्षण आदि से, तत्सिद्धिः=धर्म की सिद्धि है।

व्याख्या—धर्म की सिद्धि श्रुतियों के द्वारा अनुमान द्वारा

और प्रत्यक्ष प्रमाण से भी होती है। "पुण्यो वै पुण्येन भवति पापः पापेन" "पुण्य से श्रेष्ठ और पाप से निकृष्ट फल की प्राप्ति होती है" यह श्रुति वाक्य है। जगत् में विभिन्न योनियाँ हैं कोई उत्तम और कोई निकृष्ट, उन्हें देखकर यही अनुमान होता है कि श्रेष्ठ कर्म से उत्तम और निकृष्ट कर्म से नीच योनि प्राप्त हुई होगी तथा संसार में प्राणियों को सुख-दुःख पाते हुए प्रत्यक्ष देखा जाता है। इससे यही सिद्ध होता है कि धर्म का अस्तित्व है ॥२१॥

न नियमः प्रमाणन्तरावकाशात् ॥२२॥

सूत्रार्थ—प्रमाणान्तरावकाशात्=अन्य प्रमाणों के अवकाश से, नियमः=(धर्म का निमित्त होना) नियम, न=नहीं है।

व्याख्या—प्रमाणों का अन्तर और उनके अवकाश से अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है तो अनुमान से अथवा श्रुति आदि के प्रमाण से जो बात सिद्ध होती है, उसको मानना उचित नहीं है। इस प्रकार अनुमान आदि के द्वारा यह सिद्ध नहीं होता कि धर्म ही सृष्टि-रचना में कारण है ॥२२॥

उभयत्राप्येवम् ॥२३॥

सूत्रार्थ—उभयत्र=दोनों में, अपि=ही, एवम्=इस प्रकार है।

व्याख्या—धर्म या अधर्म दोनों में ही ऊपर कहे गये प्रमाणों को मानने योग्य समझना चाहिए ॥२३॥

अर्थात् सिद्धिश्चेत् समानमुभयोः ॥२४॥

सूत्रार्थ—अर्थात्=अर्थ से, चेत्=यदि, सिद्धिः=सिद्धि मानें तो, उभयोः=दोनों में, समानम्=प्रमाण की समानता है।

व्याख्या—वेद में जो कर्म कहे गये हैं, उनके विरुद्ध कार्य ही

अधर्म है। इस प्रकार धर्म के विरुद्ध कहा जाने का अर्थ 'अधर्म' ही है। यदि इसमें भी सन्देह हो तो श्रुतियों में धर्म और अधर्म दोनों के सम्बन्ध में समान रूप से प्रमाण मिलते हैं, जैसे "पुण्यो वै पुण्येन भवति पापः पापेन" अर्थात् धर्म से श्रेष्ठ फल और अधर्म से निकृष्ट फल की प्राप्ति होती है। यहाँ दोनों का वर्णन एक साथ हुआ है।।२४।।

अन्तःकरणधर्मत्वं धर्मादीनाम् ।।२५।।

सूत्रार्थ—धर्मादीनाम्=धर्म आदि भाव, अन्तःकरण=अन्तःकरण के, धर्मत्वम्=धर्म हैं।

व्याख्या—धर्म, अधर्म के विचार अन्तःकरण के द्वारा-प्रकट होते हैं, इसलिए इन्हें बुद्धि के धर्म होना कहा गया है, क्योंकि जितने भाव प्रकट होते हैं, वे सब बुद्धि के ही परिणाम हैं, इसलिए धर्म-अधर्म का उससे प्रकट होना माना गया है।

गुणादीनाञ्च नात्यन्तबाधः ।।२६।।

सूत्रार्थ—च=और, गुणादीनाम्=गुण आदि का, अत्यन्त बाधः=अत्यन्त नाश, न=नहीं है।

व्याख्या—गुण आदि अर्थात् सत्व, रज, तम और उनके कार्य महत्तत्व आदि का अत्यन्त नाश नहीं होता अर्थात् वे बिलकुल ही नहीं मिट जाते, बल्कि शरीर के साथ चेतन का सम्बन्ध न रहने पर, आत्मा से उनका सम्बन्ध नहीं रहता ।।२६।।

पञ्चावयवयोगात् सुखसंवित्तिः ।।२७।।

सूत्रार्थ—पञ्चावयव=पांच अवयवों के, योगात्=योग से, सुखसवित्तिः=सुख की अनुभूति होती है।

व्याख्या—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, वे शरीर के अवयव रूप हैं।

उनके सहयोग से आत्मा को सुख का अनुभव होता है। कुछ व्याख्याकारों ने 'पंचावयव, का अर्थ प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन इन न्याय के पाँच अवयवों के संयोग से सुख की प्राप्ति बताई है, क्योंकि इन पाँचों इन्द्रियों द्वारा ग्रहण न होने वाले पदार्थों का बोध होता है. इसलिए इन पांच अवयवों को सुख आदि की अनुभूति में सहायक माना जा सकता है ॥२७॥

न सकृद्ग्रहणात सम्बन्धसिद्धिः ॥२८॥

सूत्रार्थ—सकृद्ग्रहणात्=एक बार सब के ग्रहण से, सम्बन्धसिद्धिः=सम्बन्ध की सिद्धि, न=नहीं होती।

व्याख्या—एक बार ही सबको या दो को ग्रहण करना चाहें तो उससे सम्बन्ध रहा आता नहीं माना जा सकता। जैसे कहीं अग्नि दिखाई दे तो उसके साथ धुँआ भी होगा ऐसा नहीं माना जा सकता, क्योंकि बहुत बार अग्नि में धुँआँ नहीं होता। इस प्रकार एक वस्तु को देखकर दूसरी वस्तु का अनुमान कर लेना ठीक नहीं है ॥२८॥

नियतधर्मसाहित्यमुभयोरेकतरस्य वा व्याप्तिः ॥२९॥

सूत्रार्थ—नियतधर्मसाहित्यम्=निश्चित रूप से धर्मों का साथ रहना, उभयोः=दोनों, वा=अथवा, एकतरस्य=एक का, व्याप्तिः=व्याप्ति (सम्बन्ध, है।

व्याख्या—व्याप्ति किसे कहते हैं यह बताते हैं—साध्य और साधन अर्थात् धर्म और धर्म पालन कराने वाले साधन इन दोनों का निममानुसार साथ रहना 'व्याप्ति' कहा जायगा। जैसे कही धुँआ दिखाई दे तो जहाँ धुआँ होगा, वहाँ अग्नि अवश्य होगी, इसलिए धुँए की व्याप्ति अर्थात् सम्बन्ध अग्नि के साथ है परन्तु. अग्नि बिना धुँए के भी होता है इसलिए अग्नि की व्याप्ति धुँए के साथ नहीं मानी जा सकती ॥२९॥

न तत्वान्तरं वस्तुकल्पनाप्रसक्तेः ॥३०॥

सूत्रार्थ—वस्तुकल्पनाप्रसक्तेः=वस्तु की कल्पना का प्रसंग होने पर, तत्वान्तरम्=व्याप्ति भिन्न तत्व, न=सिद्ध नहीं हो सकती।

व्याख्या—यदि व्याप्ति को भिन्न तत्व अथवा अलग-अलग तत्व मानें तो अतिरिक्त वस्तु की कल्पना ठीक नहीं मानी जा सकती। इसका तात्पर्य यह है कि जो वस्तु सिद्ध है (या प्रत्यक्ष है) उसी की व्याप्ति सिद्ध होती है ॥३०॥

निजशक्त्युद्भवमित्याचार्याः ॥३१॥

सूत्रार्थ – आचार्याः= आचार्य, इति= ऐसा मानते हैं कि, निजशक्त्यदभवम्=अपनी शक्ति का उत्पन्न होना ही व्याप्ति है।

व्याख्या – तत्व की अपनी शक्ति का प्रकट होना ही व्याप्ति है, ऐसी भी मान्यता है। परन्तु, जब तक तत्व से शक्ति प्रकट नहीं होती, तब तक व्याप्ति नहीं बनती। अथवा शक्ति उत्पन्न तो हुई, परन्तु दूर देश में चली गई या नष्ट हो गई तो भी व्याप्ति नहीं हो सकती। जैसे अग्नि से धुँआ निकलकर दिखाई देता है तो धुँए की व्यासि अग्नि के साथ है। यदि धुँआ न निकला, या निकलकर दूर चला गया तो व्यासि (सम्बन्ध) नहीं बन सकता ॥३१॥

आधेयशक्तियोग इति पंचशिखः ॥३२॥

सूत्रार्थ—आधेयशक्तियोगः=व्याप्त होने के धर्म का योग होना ही व्याप्ति है, इति=ऐसा, पंचशिखः=पंचशिख आचार्य मानते हैं।

व्याख्या—आधेय का अर्थ है किसी वस्तु के आधार पर रखी

हुई वस्तु अथवा आश्रित। इस प्रकार अग्नि में आश्रित धुँए की शक्ति का सहयोग ही व्याप्ति है–ऐसा पंचशिख नामक आचार्य मानते हैं ॥३२

न स्वरूप शक्तिर्नियमः पुनर्वादप्रसक्तेः ॥३३॥

सूत्रार्थ—पुनर्वादप्रसक्तेः=पुनरुक्ति का प्रसङ्ग होने पर, स्वरूप शक्तिः=स्वरूप शक्ति, नियमः=व्याप्ति, न=नहीं है।

व्याख्या—इस सूत्र में 'नियम' का तात्पर्य 'व्याप्ति' से है। स्वरूप शक्ति अर्थात् अग्नि में धुँए की व्याप्ति है, यह कहना पुनरुक्ति अर्थात् बार-बार कहना होगा। क्योंकि धुँआ ही व्याप्ति है और व्याप्ति तथा धुँआ दोनों के एक होने से धुँआ का धुँआ अर्थ भी बनता है। इस प्रकार कहना निरर्थक है और इससे कोई लाभ नहीं है ॥३३॥

विशेषणानर्थक्य प्रसक्तेः ॥३४॥

सूत्रार्थ—विशेषणानर्थक्य=विशेषण के निरर्थक होने के, प्रसक्तेः=प्रसंग से भी यह कहना ठीक नहीं है।

व्याख्या—जब धुँआ ही व्याप्ति का रूप है, तब उसे विशेषण सहित कहना अर्थात् विशेषता से वर्णन करना कोई अर्थ सिद्ध नहीं रखता। इस प्रकार विशेषण का प्रयोग भी निरर्थक ही है ॥३४॥

पल्लवादिष्वनुपपत्तेश्च ॥३५॥

सूत्रार्थ—च=और, पल्लवादिषु=पत्ते आदि में, अनुपपत्तेः=सिद्ध न होने से स्वरूपशक्ति व्याप्ति नहीं मानी जा सकती।

व्याख्या—वृक्ष व्यापक और पत्ते, फूल, फल आदि व्याप्य हैं, इसलिए पत्ते आदि में स्वरूप शक्ति का कहा जाना व्याप्ति नहीं है।

इसे यों समझिये कि पत्ते आदि से वहाँ होने वाले वृक्षों का अनुमान हो सकता है। पत्ते आदि तो टूटकर दूर भी जा सकते हैं, परन्तु, पत्तों के टूट जाने पर भी वृक्ष में पत्तों की रूप शक्ति बनी रहती है। यदि वृक्ष की स्वरूप शक्ति पत्तों को मानलें तो पत्ते ही व्याप्ति रूप हो गये और पत्तों के टूटने पर व्याप्ति का भी नष्ट होना मानना पड़ेगा ॥३५॥

आधेयशक्तिसिद्धौ निजशक्तियोगः समानन्यायात् ॥३६॥

सूत्रार्थ—आधेयशक्तिसिद्धौ=आधेय शक्ति के सिद्ध होने पर, समानन्यायात्=समान युक्ति से, निजशक्तियोगः=अपनी शक्ति का संयोग ही व्याप्ति हैं।

व्याख्या—जैसे आधेय शक्ति का व्याप्ति होना सिद्ध है वैसे ही अपनी स्वाभाविक शक्ति भी व्याप्ति ही है। बत्तीसवें सूत्र में आधेय का विवेचन कर चुके हैं। अग्नि धुँए का हेतु है, ऐसे हेतु में व्याप्ति को जान लेना ही आधेय शक्ति है और आधेय शक्ति को जान लेने पर यह बात समझ में आ जाती है कि हेतु की अपनी ही शक्ति व्याप्ति है–जैसे अग्नि की अपनी ही शक्ति व्याप्ति मानी गई है ॥३६॥

वाच्यवाचकभावः सम्बन्धः शब्दार्थयोः ॥३७॥

सूत्रार्थ—शब्दार्थयोः=शब्द और अर्थ का, सम्बन्धः=सम्बन्ध, बाच्य-वाचक भावः=वाच्य वाचक भाव है।

व्याख्या—हृदय के भाव को व्यक्त करने के लिए शब्द का उच्चारण करते हैं, क्योंकि शब्द से ही अर्थ का बोध होता है। इसलिए शब्द में वाचक भाव और अर्थ बतलाने योग्य होता है और उसमें

वाच्य-भाव होता है। इस प्रकार शब्द और अर्थ का वाचक-वाच्य भाव से सम्बन्ध है ।।३७।।

त्रिभिस्सम्बन्धसिद्धिः ।।३८।।

सूत्रार्थ—त्रिभिः=तीन से, सम्बन्धसिद्धिः=सम्बन्ध की सिद्धि है।

व्याख्या—शब्द और अर्थ के वाचक और वाच्य सम्बन्ध का निर्णय आप्तोपदेश, वृद्ध व्यवहार और प्रसिद्धपद समानाधिकरण इन तीनों के द्वारा किया जाता है। 'आप्त' वह है जिसे यथार्थ ज्ञान है, ऐसे व्यक्ति द्वारा किसी तत्व का बतलाना मानने योग्य है। वृद्ध व्यवहार वह है जो किसी वृद्ध पुरुष के द्वारा जाना जा सके, जैसे किसी वृद्ध ने कहा कि यह 'मकान' है, किसी अनजान बालक ने देखा कि वृद्ध ने इसे 'मकान' कहा है तो उसे मकान मान लिया। प्रसिद्ध पद-समानाधिकरण से तात्पर्य है कि जो बात प्रसिद्ध है, उसकी समानता द्वारा निर्णय कर लिया जाय। जैसे किसी ने कहा कि 'नल का जल ले आ'। नल प्रसिद्ध है ही, उसमें से पानी निकलता है तो 'पानी' को ही 'जल' कहा होगा यह समझकर पानी ले आये। इस प्रकार इन तीनों से शब्द और अर्थ का वाचक-वाक्य सम्बन्ध जाना जाता है ।।३८।।

न कार्यें नियम उभयथादर्शनात् ।।३९।।

सूत्रार्थ—उभयथा=दोनों प्रकार से, दर्शनात्=देखने से, कार्ये=कार्यें में, नियम=नियम, न=नहीं है।

व्याख्या—कार्यं अर्थात् जिस वाक्य में क्रिया का बोध हो, उसमें ही वाच्य-वाचक का सम्बन्ध रहता है, ऐसी बात नहीं है, किन्तु विधि वाक्यों में भी वाच्य वाचक का सम्बन्ध होता है। 'अग्निहोत्र जहुयात्' यह विधि वाक्य है इससे अग्निहोत्र का वोध होता है और

'पुत्रस्तेजातः' 'तेरे पुत्र उत्पन्न हुआ है' यह अर्थ बोधक वाक्य है । इस प्रकार चाहे विधि वाक्य हो या सिद्ध वाक्य, दोनों में शक्ति ग्रहण होना चाहिये ॥३९॥

लोके व्युत्पन्नस्य वेदार्थप्रतीतिः ॥४०॥

सूत्रार्थ – लोके=संसार में, व्युत्पन्नस्य=ज्ञानी को, वेदार्थप्रतीतिः=वेदार्थ का ज्ञान हो जाता है ।

व्याख्या -- संसार से जो पुरुष पूर्ण ज्ञानी होते हैं उन्हें वेद के अर्थ का ज्ञान हो जाता है, क्योंकि शब्द-शक्ति लोक में और वेद में एक ही है, उसमें भिन्नता नहीं हैं ॥४०॥

न त्रिभिरपौरुषेयत्वाद्वेदस्य तदर्थस्याप्यतीन्द्रियत्वात् ॥४१॥

सूत्रार्थ – त्रिभिः=आप्तोपदेश आदि तीनों के द्वारा, वेदस्य=वेद के, अपौरुषेयत्वात्=अपौरुषेय होने से, तदर्थस्य= उसके अर्थ के, अपि=भी, अतीन्द्रियत्वात्=अतीन्द्रिय होने से, न=सम्भव नहीं होता ।

व्याख्या—जो किसी व्यक्ति द्वारा न कहा गया हो, वह अपौरुषेय कहा जाता है । वेद किसी पुरुष द्वारा नहीं रचे गये इसलिए वेद अपौरुषेय है और वेद का अर्थ अतीन्द्रिय (ज्ञान के बिना समझ में न आने वाला) है । इस प्रकार अपौरुषेय और अतीन्द्रिय वेद का शब्दार्थ आप्तोपदेश, वृद्ध व्यवहार और प्रसिद्धपदसमानाधिकरण, इन तीनों के द्वारा नहीं समझा जा सकता ॥४१॥

न यज्ञादेः स्वरूपतो धर्मत्वं वैशिष्ट्यात् ॥४२॥

सूत्रार्थ—न=ऐसा नहीं है, क्योंकि वैशिष्ट्यात्=फल

आदि की विशेषता होने से, यज्ञादेः=यज्ञ आदि का, स्वरूपतः स्वरूप से ही, धर्मत्वम्=धर्मत्व (धर्मी होना) सिद्ध है।

व्याख्या—स्वरूप से यज्ञ आदि कर्म को वेद का धर्म होना माना गया है और यज्ञ आदि अनुष्ठान विशिष्ट फलों के देने वाले भी हैं, इस प्रकार वेद के लक्षण रूप यज्ञ आदि की उपादेयता सिद्ध है, तब, वेद का अर्थ अतीन्द्रिय अर्थात् अप्रकट नहीं माना जा सकता ॥४२॥

निजशक्तिव्युत्पत्त्या व्यवच्छिद्यते ॥४३॥

सूत्रार्थ-निजशक्तिः=वेद की अपनी शक्ति, व्युत्पत्त्या=व्युत्पत्ति द्वारा, व्यवच्छिद्यते=विभिन्नता से कही जाती हैं।

व्याख्या—वेदों की जो अपनी स्वाभाविक शक्ति है, उसे पूर्ण ज्ञानी पुरुष वेद-ज्ञान के द्वारा शब्दों को अलग-अलग अर्थ करके कहते हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि उसके अर्थ कोई व्यक्ति स्वयं करके कहता हो ॥४३॥

योग्यायोग्येषु प्रतीतिजनकत्वात् तत्सिद्धिः ॥४४॥

सूत्रार्थ—योग्यायोग्येषु=योग्य अयोग्य में, प्रतीतिजनकत्वात्=ज्ञान का उत्पन्न करने वाला होने से, तत्सिद्धिः=उसकी सिद्धि होती है।

व्याख्या—योग्य पदार्थ वह है जो इन्द्रिय से ग्रहण किया जा सकता है, जो कि प्रत्यक्ष है। अयोग्य पदार्थ इन्द्रिय से ग्रहण नहीं हो सकता है, क्योंकि वह प्रकट नहीं होता। वेद को इन दोनों से सम्पन्न माना है। योग्य इस प्रकार है कि उसके अर्थ रूप यज्ञादि का श्रेष्ठ फल प्रत्यक्ष देखा जाता है और अयोग्य अथवा अतीन्द्रिय इस प्रकार है कि वह ज्ञान के विना अग्राह्य अर्थात् समझ से परे हैं। साथ ही वह ज्ञानजनक होने से स्वयं सिद्ध भी है ॥४४॥

न नित्यत्वं वेदानां कार्यत्वश्रुतेः ॥४५॥

सूत्रार्थ—कार्यत्वश्रुतेः=कार्य रूप सुना जाने से, वेदानाम=वेदों का, नित्यत्वम्=अविनाशीपन, न=सिद्धि नहीं है।

व्याख्या—श्रुति में वेद को कार्य रूप कहा जाने से, उनको नित्य (नष्ट न होने वाला) नहीं मान सकते। शतपथ ब्राह्मण में "स तपोऽतप्यत् तस्मात्तपस्तपनात् त्रयो वेदा अजायन्त" अर्थात् 'उसने तप किया तप करने से तीन वेद उत्पन्न हुए' इस प्रकार वेदों का नित्यत्व सिद्ध नहीं होता ॥४५॥

न पौरुषेयत्वं तत्कर्त्तुः पुरुषस्याभावात् ॥४६॥

सूत्रार्थ—तत्कर्त्तुः=उसके कर्त्ता, पुरुषस्य=पुरुष के, अभावात्=अभाव से, पौरुषेत्वम्=वेद का पौरुषेय होना, न =सिद्ध नहीं होता।

व्याख्या—वेद का कर्त्ता कोई पुरुष नहीं है, इसलिए उनको पौरुषेय अर्थात् किसी व्यक्ति द्वारा रचे हुए नहीं कहा जा सकता। कुछ लोग वेद का कर्त्ता ईश्वर को मानते हैं, परन्तु सांख्यमत में ईश्वर अकर्त्ता माना गया है, इसलिये ईश्वर को वेदों का कर्त्ता भी नहीं मान सकते ॥४६॥

नमुक्तामुक्तयोरयोग्यत्वात् ॥४७॥

सूत्रार्थ—मुक्तामुक्तयोः=मुक्त और अमुक्त दोनों के, अयोग्यत्वात्=अयोग्य होने से, न=वेद का कर्त्ता नहीं हो सकता।

व्याख्या—ईश्वर को यदि मुक्त मानें तो सर्वज्ञ होने पर भी राग-रहित अर्थात् कार्य शक्ति न होने से वेद के निर्माण में योग्य नहीं हो सकता और मुक्त न होने की दशा में अज्ञानी होने के कारण अयोग्य

होगा। इस प्रकार दोनों अवस्थाओं में ही ईश्वर वेद का रचयिता सिद्ध नहीं हो सकता ॥४७॥

नापौरुषेयत्वान्नित्यत्वमंकुरादिवत् ॥४८॥

सूत्रार्थ—अपौरुषेयत्वात्=अपौरुषेय होने से, अंकुरादिवत्=अंकुर आदि के समान, नित्यत्वम्=तदों का नित्यत्व, न=सिद्ध नहीं होता।

व्याख्या—जैसे अंकुर आदि अपौरुषेय हैं और वे नष्ट होने वाले हैं, वैसे ही वेद भी अपौरुषेय अर्थात् किसी पुरुष द्वारा रचे हुए नहीं हैं, इसलिए वे अविनाशी नहीं हो सकते ॥४८॥

तेषामपि तद्योगे दृष्टबाधादिप्रसक्तः ॥४९॥

सूत्रार्थ—तेषाम्=उन (अंकुर आदि) का, अपि=भी तद्योगे=उसके साथ योग होने से, दृष्टबाधादि=दृष्ट की बाधा आदि का, प्रसक्तः=प्रसंग उपस्थित होगा।

व्याख्या—यदि अंकुर आदि को पौरुषेय अर्थात् किसी पुरुष के द्वारा उत्पन्न मान लें तो उससे दृष्ट की बाधा उपस्थित होगी। इसका तात्पर्य यह है कि अंकुर आदि तो प्रत्यक्ष में ही अपने आप उत्पन्न होते हैं उनका कोई कर्त्ता दिखाई नहीं देता, इसलिए जो प्रत्यक्ष देखा जाता है, वह झूँठा हो जायगा ॥४९॥

यस्मिन्नदृष्टेऽपि कृतबुद्धिरुपजायते तत्पौरुषेयम् ॥५०॥

सूत्रार्थ—यस्मिन्=जिस, अदृष्टे=न देखी जाने वाली वस्तु में, अपि=भी कृतबुद्धिः=रचना की गई है, ऐसी प्रतीति वाली बुद्धि, उपजायते=उत्पन्न होती है, तत्=वह वस्तु, पौरुषेयम्=पुरुष द्वारा उत्पन्न हुई जैसी मानी जाती है।

व्याख्या—जिस वस्तु की रचना होती हुई नहीं देखी जाती,

परन्तु बुद्धि से ऐसा लगता है कि इस वस्तु की रचना की गई है, तो वह पौरुषेय ही मानी जाती है। इसका तात्पर्य यह है कि वेद का कर्त्ता ईश्वर न होते हुए भी, वेद उसकी प्रेरणा से ही प्रकट हुए हैं और लोक में भी ईश्वर को वेद का कर्त्ता कहा जाता है, तथा वेदों के देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि इनकी रचना की गई है, इस प्रकार वेदों को पौरुषेय ही मानना ठीक है ॥५०॥

निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम् ॥५१॥

सूत्रार्थ—निजशक्त्यभिव्यक्तेः=वेद अपनी शक्ति के प्राकट्य से, स्वतः प्रामाण्यम्=स्वतः सिद्ध है।

व्याख्या—वेद में अर्थ का बोध कराने वाली अपनी स्वाभाविक शक्ति है और वेद का अर्थ जान लेने पर उससे यथार्थ ज्ञान हो जाता है, साथ ही वेदार्थ को जानकर जो यज्ञादि अनुष्ठान किये जाते हैं, वे भी श्रेष्ठ फल वाले होते हैं, इस प्रकार वेद की स्वाभाविक शक्ति प्रत्यक्ष होने से अपने आप ही उसकी सिद्धि है, उन्हें सिद्ध करने के लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है ॥५१॥

नासतः ख्यानं नृश्रृंगवत् ॥५२॥

सूत्रार्थ—नश्रृंगवत्=मनुष्य के सींग के समान, असतः=असत् का, ख्यानम्=ज्ञान, न=सम्भव नहीं है।

व्याख्या—मनुष्य के सींग नहीं होते, यह बात प्रत्यक्ष है। इसी प्रकार जो असत् है उसका ज्ञान नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि रस्सी में सर्प का भ्रम हो गया सर्प का उसमें अस्तित्व ही नहीं है, इस लिए यह भ्रम ही असत् है और असत् वस्तु का ज्ञान हो सके तो मनुष्य के सिर पर सींग भी हो सकते हैं ॥५२॥

न सतो वाधदर्शनात् ।।५३।।

सूत्रार्थ—बाधदर्शनात्=बाधा देखी जाने से, सतः=सत्, न=नहीं है।

व्याख्या—पहिले रस्सी को सर्प समझा, फिर सही बात मालूम हुई कि यह रस्सी है, सर्प नहीं, इससे सर्प की बाधा अर्थात् समाप्ति हो जाती है। इस प्रकार सत् रूप सर्प का ज्ञान होगया, यह मानना ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञान सत् और असत् दोनों वस्तुओं का होता है ।।५३।।

नानिर्वचनीयस्य तद्भावात् ।।५४।।

सूत्रार्थ—तद्भावात्=उसके अभाव से, अनिर्वचनीयस्य =अनिर्वचनीय का भाव, न=नहीं होता।

व्याख्या—सत् और असत् दोनों से भी भिन्न कोई पदार्थ संसार में नहीं हैं इसलिए ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि सत् या असत् से विपरीत किसी ऐसे तत्व का होना सम्भव है जिसका रूप-ज्ञान न हो और जो वाणी द्वारा न कहा जा सके। कल्पना के आधार पर ऐसे तत्व का होना नहीं मान सकते ।।५४।।

नान्यथा ख्यातिः स्ववचोव्याघातात् ।।५६।।

सूत्रार्थ—स्ववचोव्याघातात्=अपने वचन के व्याघात से अन्यथा=विपरीत, ख्यातिः=ख्याति, न नहीं है।

व्याख्या—रस्सी में सर्प का ज्ञान होने के बाद जब हम जानते है कि यह रस्सी ही है हमें सर्प का मिथ्या ज्ञान हो गया था, तो इससे हमारी अपनी ही बात का विरोध हो जाता है, क्योंकि अन्य वस्तु में अन्य वस्तु का ज्ञान भी मनुष्य के सींग के समान मिथ्या ही है, इस प्रकार अन्य वस्तु से अन्य वस्तु का आभास हुआ बताना भी असंगत है ।।५५।।

सदसत्ख्यातिर्बाधाबाधात् ॥५६॥

सूत्रार्थ—बाधाबाधात्=बाधा व अबाध होने से, सद्सत्=सत् या असत्, ख्यातिः=कहना होता है।

व्याख्या—इस सूत्र में 'सद्सत्ख्याति' पद आया है, वह 'मिथ्या प्रतीति' के लिए है। रस्सी में सर्प की मिथ्या प्रतीति होती है, उस समय जङ्गल के सर्प का ध्यान होकर भय, शंका आदि उत्पन्न होते हैं, परन्तु, जैसे ही हमको ज्ञान होता है कि सर्प जङ्गल में ही है, यह तो रस्सी है, तो इससे सर्प बाधित होता है, अर्थात् पहिले सर्प का भ्रम हुआ तो वह 'अबाध' हुआ और भ्रम दूर हुआ तो 'बाध' हो गया, इन दोनों अवस्थाओं को 'सद्सतख्याति' कहते हैं ॥५६॥

प्रतीत्यप्रतीतिभ्यां न स्फोटात्मकः शब्दः ॥५७॥

सूत्रार्थ—प्रतीत्यप्रतीतिभ्याम्=प्रतीति और अप्रतीति दोनों के होने पर, शब्दः=शब्द, स्फोटात्मकः=स्फोटात्मक, न=नहीं है।

व्याख्या—शब्द से अर्थ का ज्ञान प्रकट होने को स्फोट कहते हैं और 'स्फोट' शब्द से उत्पन्न होता है, इसलिए शब्द स्कोटात्मक है। परन्तु जहाँ सत्य धारणा नहीं वहाँ शब्द स्फोटात्मक नहीं होता। रस्सी में सर्प का ज्ञान होना और फिर न होना इस प्रकार प्रतीति और अप्रतीति दोनों के कारण यहाँ शब्द को स्फोटात्मक नहीं माना जा सकता ॥५७॥

न शब्दनित्यत्वं कार्यप्रतीतेः ॥५८॥

सूत्रार्थ—कार्यताप्रतीतेः=कार्यत्व प्रतीत होने से, शब्द=शब्द की, नित्यत्वम्=नित्यता, न=नहीं है।

व्याख्या—शब्द को नित्य नहीं मान सकते। नित्य वही है जो

न उत्पन्न होता है, न नष्ट होता है, परन्तु, शब्द उत्पन्न होता और नष्ट भी हो जाता है, इससे उसमें कार्यता की प्रतीति होती है, क्योंकि जो नित्य नहीं है, वह कारण भी नहीं है, उसे कार्य ही माना जा सकता है ॥५८॥

पूर्वसिद्धसत्वस्याभिव्यक्तिर्दीपेनेव घटस्य ॥५९॥

सूत्रार्थ—दीपेन=दीपक से, घटस्य=घढ़े के, इव=समान पूर्वसिद्धि=पहिले सिद्ध हुए, सत्वस्य=सत्व की, अभिव्यक्तिः=प्रकटता है।

व्याख्या—शब्द की सत्ता पहिले ही है, परन्तु, वह वाणी द्वारा केवल प्रकट होता है। जैसे एक घड़ा अन्धेरे में रखा है और दिखाई नहीं देता, परन्तु दीपक का प्रकाश होने पर दिखाई देने लगता है, उसी प्रकार शब्द पहिले से है, परन्तु, उच्चारण करने पर प्रकट होता है ॥५९॥

सत्कार्यसिद्धान्तश्चेत्सिद्धसाधनम् ॥६०॥

सूत्रार्थ--सत्कार्यसिद्धान्तः=सत् कार्य का सिद्धान्त चेत्=यदि मानलें तो, सिद्धसाधनम्=सिद्ध वस्तु का साधन होला है।

व्याख्या—सिद्ध वस्तु को प्रकट करने के लिये साधन की आवश्यकता होती है। यदि सत्कार्य का सिद्धान्त अर्थात् शब्द पहिले से था और वह उच्चारण द्वारा प्रकट होता है—इस सिद्धान्त को मान लें तो शब्द का नित्य होना सिद्ध होता है और उच्चारण उसे प्रकट करने वाला साधन है। सांख्यमत में सिद्धान्त मान्य ही है ॥६०॥

नाद्वैतमात्मनो लिगात् तद्भेदप्रतीतेः ॥६१॥

सूत्रार्थ—लिंगात्=(आत्मा के) रूप से, तद्भेदप्रतीतेः=

उनमें भिन्नता का ज्ञान होने पर, आत्मनः=आत्मा का, अद्वैतम् =अद्वितीय अर्थात् एक होना, न=सिद्ध नहीं होता ।

व्याख्या—यह नहीं माना जा सकता कि आत्मा एक ही है, क्योंकि संसार मे आत्मा अनेक हैं-यह बात प्रत्यक्ष देखी जाती है। कोई जन्म लेता, कोई मरता, कोई बीमार पड़ता, कोई स्वस्थ रहता, कोई सुख भोगता, कोई दुःख भोगता है। यदि सबमें एक ही आत्मा होता तो सब एक साथ जन्म लेते, एक साथ मरते और एक साथ ही सुख-दुःख का भोग करते। इस प्रकार आत्मा का एक होना सिद्ध नहीं होता ।६१।।

नानात्मनापि प्रत्यक्षबाधत् ।।६२।।

सूत्रार्थ--अनात्मना=जो आत्मा नहीं है (अचेतन शरीर) उसके साथ, अपि=भी, प्रत्यक्षबाधात्=बाधा देखी जाने से, आत्मा का एक होना सिद्ध नहीं है ।

व्याख्या—यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि आत्मा का सम्बन्ध जब अचेतन शरीर से होता है, तभी वह शरीर क्रियाशील होता है, आत्मा के उसमें से निकलते ही, निश्चेष्ट हो जाता अर्थात् मर जाता है। इस प्रकार जिस शरीर में से आत्मा निकल जाता है, वही मरता है, सभी नहीं मरते, इससे भी आत्मा अनेक है—ऐसा सिद्ध होता है ।।६२।।

नोभाभ्यां तेनैव ।।६३।।

सूत्रार्थ--तेनव=उक्त कारण से, उभाभ्याम्=दोनों के पृथक् होने से, न=अद्वैत होना नहीं बनता ।

व्याख्या—चेतन आत्मा और अचेतन शरीर दोनों मिलकर एक हैं, यह बात भी नहीं मानी जा सकती क्योंकि प्रत्यक्ष रूप से इनका

अलग-अलग होना संसार में देखा जाता है—आत्मा के निकलने पर शरीर पड़ा रह जाता है, तो वे दोनों एक कैसे हो सकते हैं ॥६३॥

अन्यपरत्वमविवेकानां तत्र ॥६४॥

सूत्रार्थ—तत्र=उनमें, अन्यपरत्वम्=द्वैत से भिन्न अर्थ निकालना, अविवेकानाम्=अविवेकियों का कार्य है।

व्याख्या—उपरोक्त प्रमाणों से यह सिद्ध हो चुका है कि आत्मा और शरीर अलग-अलग हैं अथवा आत्मा एक नहीं अनेक हैं। फिर भी, यदि कोई इसका मतलब अद्वैत अर्थात् आत्मा का एक होना ही मानें तो वह अवश्य ही अविवेकी पुरुष होगा, ज्ञानी नहीं हो सकता ॥६४॥

नात्माविद्या नोभयं जगदुपादानकारणं निःसङ्गत्वात् ॥६५॥

सूत्रार्थ—आत्मा=आत्मा, अविद्या=अविद्या, निःसङ्गत्वात्=निसंग होने से, जगदुपादानकारणम्=जगत् के उपादान कारण, न=नहीं हो सकते, उभयम्=दोनों मिलकर भी, न=नहीं हो सकते।

व्याख्या—आत्मा जगत् का उत्पन्न करने वाला कारण नहीं हो सकता, क्योंकि आत्मा चेतन है और सभी चेतनतत्व अपरिणामी होते हैं और अविद्या को इसलिए जगत् का उपादान कारण नहीं मान सकते कि वह चेतन आत्मा के आश्रित है। यदि अविद्या रूप आश्रित कोई कार्य करे तो आत्मा रूप आश्रय भी उससे प्रभावित होगा और यह कहें कि दोनों मिलकर ही जगत् के उपादान कारण हो सकते हैं तो यह भी नहीं हो सकता, क्योंकि चेतन आत्मा का वह धर्म ही नहीं है, इसलिये वह साथ में मिलकर भी कार्य नहीं कर सकता ॥६५॥

नैकस्यानन्दचिद्रूपत्वे द्वयोर्भेदात् ॥६६॥

सूत्रार्थ—द्वयोर्भेदात्=दोनों के भेद से, एकस्य=एक जीवात्मा का, आनन्द-चित् रूपत्वे=आनन्द रूप और चैतन्य होना, न=सिद्ध नहीं होता।

व्याख्या—चेतन दो हैं जीवात्मा और परमात्मा, जीवात्मा देह धारण करता और परमात्मा नहीं करता। श्रुति में परमात्मा को "सत्य विज्ञानमानन्द ब्रह्म" अर्थात् 'ब्रह्म सत्य' विज्ञान और आनन्द रूप हैं' तो यह लक्षण परमात्मा के कहे हैं। जीवात्मा के यह लक्षण नहीं हैं, यह चिद्रूप अर्थात् चैतन्य तो है, परन्तु, आनन्दरूप नहीं है, क्योंकि, देह के बन्धन में आकर सुख-दुःख रूप फल भोगने से उसे आनन्द कहाँ? इस प्रकार जीवात्मा और परमात्मा के भेद होने के कारण, जीवात्मा का आनन्दरूप और चिद्रूप होना सिद्ध नहीं होता ॥६६॥

दुःखनिवृत्तेर्गौणः ॥६७॥

सूत्रार्थ—दुःखनिवृतेः=दुःख की निवृति होने के कारण, गौणः=आनन्द-स्वरूप कहा जाना गौण है।

व्याख्या—जीवात्मा को जब मोक्ष मिल जाता है, तब उसके दुःख दूर हो जाते हैं, उस अवस्था में ही जीवात्मा का आनन्द रूप होना कहा है। इस प्रकार 'आनन्दरूप' पद को यहाँ गौण ही समझना चाहिए ॥६७॥

विमुक्तिप्रशंसा मन्दानाम् ॥६८॥

सूत्रार्थ—मन्दानाम्=अज्ञानियों के लिए यह पद, विमुक्त =मोक्ष की, प्रशंशा=प्रशंसा मात्र है।

व्याख्या—शास्त्रों में विमुक्त पुरुष की अवस्था की स्थान-स्थान पर प्रशंसा की गई है, उसमें अत्युक्ति भी हो गई है, जिससे प्रभावित होकर, विषयों में पड़े हुए प्राणी मोक्ष के लिए उत्सुक हो सकें। उन मूर्खों को प्रभावित करने के लिए ही इस प्रकार मोक्ष की अवस्था को बढ़ा-चढ़ा कर कहा गया है ॥६८॥

न व्यापकत्वं मनसः करणत्वादिन्द्रियत्वाद्वा ॥६९॥

सूत्रार्थ—करणत्वात्=करण होने से, वा=अथवा, इन्द्रियत्वात्=इन्द्रिय होने से, मनसः=मन का व्यापक होना, न=सिद्ध नहीं है।

व्याख्या—मन करण है और इन्द्रिय भी है तथा कोई भी करण या इन्द्रिय व्यापक नहीं है। करण या इन्द्रिय व्यापक माने जावें तो वह अपने कार्य या विषय के साथ सदा सम्बन्ध बनाये रखेंगे और वह कार्य या विषय निरन्तर चलता रहेगा। परन्तु ऐसा नहीं होता। भोजन समाप्त करते ही उनकी क्रिया रुक जाती हैं, चलते-चलते थकने पर रुकना पड़ता है। इस प्रकार करण या इन्द्रियों का कार्य निरन्तर एक-सा न रहने से उन्हें व्यापक नहीं मान सकते। इसलिये मन को भी व्यापक नहीं कहा जा सकता ॥६९॥

सक्रियत्वाद्गतिश्रुतेः ॥७०॥

सूत्रार्थ—गतिश्रुतेः=गति प्रतिपादक श्रुति से, सक्रियत्वात्=क्रियाशील होने के कारण (मन व्यापक नहीं हो सकता)।

व्याख्या—वेदों में मन को गतिवान कहा है, वह एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने वाला होने से क्रियाशील भी है। ऋग्वेद

(१०-५८-२) "यत्ते दिवं, यत्पृथिवीं मनो जगाम दूरकम्" अर्थात् 'सुदूर-स्वर्ग में गये हुए तेरे मन को हम पुनः लौटाते हैं।' इस प्रकार अन्य श्रुति भी उपलब्ध हैं जिनमें मन की गति का वर्णन है, इसलिये मन व्यापक नहीं माना जा सकता ॥७०॥

न निर्भागत्वं तद्योगाद् घटवत् ॥७१॥

सूत्रार्थ—घटवत्=घड़े के समान, निर्भागत्वम्=निरवयव होना, तद्योगात्=अवयवों के योग से, न=नहीं होता।

व्याख्या—जिस वस्तु में अवयव नहीं होते, वह नित्य अर्थात् नष्ट न होने वाली कही जाती है। जब कुछ तत्व मिल कर अवयव रूप हो जाते हैं, तब किसी वस्तु का आकार प्रत्यक्ष होता है जैसे, घड़ा मिट्टी से बना है, वह अवयव वाला है, वैसे ही मन भी तीनों गुणों के संयोग वाला और अवयव सहित है, इसलिये उसे निरवयव नहीं कह सकते हैं ॥७१॥

प्रकृतिपुरुषयोरन्यत सर्वमनित्यम् ॥७२॥

सूत्रार्थ—प्रकृतिपुरुषयोः=प्रकृति और पुरुष से, अन्यत्=अन्य जो कुछ है वह, सर्वं=सब, अनित्यम्=अनित्य ही है।

व्याख्या—चेतन पुरुष—जीवात्मा और परमात्मा तो नित्य है ही, साथ ही जगत् का मूल उपादान रूप प्रकृति भी नित्य है। इस प्रकार चेतन पुरुष और प्रकृति के अलावा जो कुछ भी है, वह सभी नाशवान है, नित्य नहीं है ॥७२॥

न भागलाभो भोगिनो निर्भागत्वश्रुतेः ॥७३॥

सूत्रार्थ—निर्भागत्वश्रुतेः=श्रुति में निरवयव बताये जाने से, भोगिनः=भोक्ता और भोग्या का, भागलाभः=अवयव वाला होना, न=सिद्ध नहीं होता।

व्याख्या—भोगने वाला पुरुष और भोगी जाने वाली प्रकृति इन दोनों को श्रुति में अवयव-रहित कहा है, इससे इसका सावयव होना सिद्ध नहीं होता ।।७३।।

नानन्दाभिव्यक्तिमुंक्तिर्निर्धर्मत्वात् ।।७४।।

सूत्रार्थ—निर्धर्मत्वात्=निर्धर्मत्व होने से. आनन्दाभिव्यक्तिः=आनन्द की अभिव्यक्ति, मुक्तिः=मोक्ष, न=नहीं है।

व्याख्या—आत्मा चेतन स्वरूप है, उसमें कोई धर्म नहीं होता इससे आत्मा में आनन्द रूप धर्म की अभिव्यक्ति को मोक्ष नहीं कह सकते, क्योंकि आत्मा का स्वरूप तो सदा नित्य और एक-सा है, उसमें किसी धर्म आदि का प्रकट होना संभव नहीं है ।।७४।।

न विशेषगुणोच्छित्तिस्तद्वत् ।।७५।।

सूत्रार्थ—विशेषगुणोच्छित्तिः=विशेष गुणों का उच्छेद, तद्वत=उसी प्रकार, न=मोक्ष नहीं है।

व्याख्या—जैसे कि ऊपर कहा जा चुका है, दु:ख-सुख निवृत्ति को मोक्ष नहीं कह सकते, क्योंकि आत्मा चेतन स्वरूप है, उसमें किसी बाहरी गुण का समावेश नहीं हो सकता और सत्व,रज,तम् रूप गुण उसके लिये भोग-साधन उपस्थित नहीं करते तो गुणों का उच्छेद अर्थात् नष्ट होना कहा गया। इस प्रकार इन गुणों में से किसी विशेष गुण का कार्य न करना आत्मा की मोक्ष अवस्था नहीं मानी जा सकती ।।७५।।

न विशेषगतिर्निष्क्रियस्य ।।७६।।

सूत्रार्थ—निष्क्रियस्य=निष्क्रिय आत्मा की, विशेषगतिः=विशेष गति, न—मोक्ष नहीं है।

व्याख्या—निष्क्रिय अथवा क्रिया रहित आत्मा जब किसी

विशेष गति को पा जाता है, अर्थात् आत्मज्ञान प्राप्त कर जीवन्मुक्त हो जाता है, तो इस अवस्था को भी मोक्ष कहना यथार्थ नहीं है। क्योंकि मोक्ष की अवस्था में आत्मा सूक्ष्म शरीर वाला भी नहीं रहता, इसलिये उसमें कोई गति नहीं होती। इससे सिद्ध होता है कि आत्मा को जहाँ गतिशील कहा जाता है, वहाँ उसका मोक्ष प्राप्त करना सिद्ध नहीं होता ॥७६॥

नाकारोपरागोच्छित्तिः क्षणिकत्वादिदोषात् ॥७७॥

सूत्रार्थ—क्षणिकत्वादिदोषात्=क्षणिकत्व आदि का दोष होने से, आकारोपरागोच्छित्तिः=आकार रूप उपराग का उच्छेद न=मोक्ष नहीं माना जा सकता।

व्याख्या—बाहरी विषयों के आकार की वासना अर्थात् विषयों की वासना नष्ट होने को भी मोक्ष नहीं कहा जा सकता क्योंकि विषयों की वासना क्षणिक है, एक वासना नष्ट हुई, दूसरी आई, इस प्रकार वासनाएँ प्रतिक्षण नष्ट होती रहती हैं, तो उन वासनाओं का नष्ट होना ही मोक्ष कैसे मान लें? जो वासना गई, वह फिर भी आ सकती है ॥७७॥

न सर्वोच्छित्तिरपुरुषार्थत्वादिदोषात् ॥७८॥

सूत्रार्थ—अपुरुषार्थत्वादिदोषात्=अपुरुषार्थ आदि का दोष उपस्थित होने से, सर्वोच्छित्तिः=सबका उच्छेद होना, न=मोक्ष नहीं माना जा सकता।

व्याख्या—यदि आत्म और अनात्म अर्थात् चेतन और अचेतन सभी का नष्ट होना मान लें तो सब के नष्ट होने से पुरुषार्थ भी नहीं रहेगा, क्योंकि आत्मा निकल जाने पर शरीर में पुरुषार्थ देखने में नहीं

आता और पुरुषार्थ के अन्तर्गत ही मोक्ष है। इसलिये, पुरुषार्थ नहीं तो मोक्ष भी नहीं हो सकता ॥७८॥

एवं शून्यमपि ॥७९॥

सूत्रार्थ–एवम्=इसी प्रकार, शून्यम्=शून्यवाद में, अपि=भी समझना चाहिये।

व्याख्या—आत्मा के नष्ट होने पर शून्यवाद में भी, पुरुषार्थ नष्ट होने के कारण मोक्ष की सिद्धि नहीं हो सकती ॥७९॥

संयोगाश्च वियोगान्ता इति न देशादिलाभोऽपि ॥८०॥

सूत्रार्थ संयोगाः=संयोग, च=और, वियोगान्ता=वियोग के अन्त होने तक होने से, इति=यह, देशदिलाभः=देश आदि लाभ, अपि=भी, न=मोक्ष नहीं है।

व्याख्या—ऐश्वर्यमय देश, स्थान, घर, स्त्री आदि का संयोग और फिर उससे वियोग हो जाना आदि से भी मोक्ष होना सिद्ध नहीं होता ॥८०॥

न भागियोगो भागस्य ॥८१॥

सूत्रार्थ-भागस्य=अंश का, अभागियोगः=अंशी के साथ संयोग, न=मोक्ष नहीं।

व्याख्या—जीवात्मा को ईश्वर का अंश और ईश्वर को अंशी मानने पर, जीवात्मा का ईश्वर में लीन हो जाना भी मोक्ष नहीं है, क्योंकि अंश का अंशी में मिलना अर्थात् योग होना उनका वियोग भी करायेगा और योग-वियोग अनित्य है, नित्य नहीं है। इस प्रकार अनित्य होने से मोक्ष की सिद्धि नहीं है ॥८१॥

नाणिमादियोगोऽप्यवश्यंभावित्वात्तदुच्छित्तेरितर-योगवत् ॥८२॥

सूत्रार्थ—तदुच्छित्तेः=अणिमादि उच्छेद के, अवश्यंभावित्वात्=अवश्य होने वाला होने से, इतरयोगवत्=अन्य ऐश्वर्य के संयोग के समान, अणिमादियोगः=अणिमा आदि की प्राप्ति, अपि=भी, न=मोक्ष नहीं कही जा सकती।

व्याख्या—अणिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, वशित्व, ईशितृत्व, यत्रकामा वसायित्व—यह आठ प्रकार की सिद्धियाँ परम ऐश्वर्य मानी गई हैं। अन्य ऐश्वर्यों के समान ही यह अष्टसिद्धियाँ भी नाशवान् हैं। इस प्रकार, इनकी प्राप्ति को भी मोक्ष नहीं कहा जा सकता ॥८२॥

नेन्द्रादिपदयोगोऽपि तद्वत् ॥८३॥

सूत्रार्थ—इन्द्रादिपदयोगः=इन्द्र आदि का पद प्राप्त कर लेना अपि=भी, तद्वत्=उसी प्रकार मोक्ष नहीं है।

व्याख्या—इन्द्र आदि का पद भी आज है, कल नहीं। अर्थात् कर्म-फल रूप स्वर्ग आदि प्राप्त कर लेने पर उनका भोग करके फिर मृत्यु लोक में लौटना होता है, इसलिए इन्द्र आदि का पद पा लेना भी मोक्ष स्वरूप नहीं है ॥८३॥

न भूतप्रकृतित्वमिन्द्रियाणामाहंकारिकत्वश्रुतेः ॥८४॥

सूत्रार्थ—इन्द्रियाणाम्=इन्द्रियों के, आहंकारित्व=आहंकारिक होने में, श्रुतेः=श्रुति होने से, भूतप्रकृतित्वम्=इन्द्रियों का भौतिक होना, न=सिद्ध नहीं होता।

व्याख्या—इन्द्रियाँ अहङ्कार से उत्पन्न हैं, इसलिए पृथिवी

आदि भूत इनके उपादान कारण नहीं हैं यह बात श्रुति-प्रमाण से भी सिद्ध है और पहिले भी कही जा चुकी है ।।८४।।

न षट् पदार्थनियमस्तद्बोधान्मुक्तिः ।।८५।।

सूत्रार्थ—षट्पदार्थनियमः=षट्पदार्थ का नियम और तद्बोधात्=उनका बोध होने से, मुक्तिः=मोक्ष, न=नहीं है।

व्याख्या—वैशेषिक छः पदार्थ मानते हैं द्रव्य, गुण, कर्म सामान्य, विशेष, समवाय। इन पदार्थों का ज्ञान होने पर मोक्ष होना सिद्ध नहीं होता, क्योंकि पृथ्वी आदि अधिक पदार्थ हैं, उनका वर्णन होने से उन पदार्थों को छः ही कहना मिथ्या है और इनसे मोक्ष भी नहीं हो सकती ।।८५।।

षोडशादिष्वप्येवम् ।।८६।।

सूत्रार्थ—एवम्=इसी प्रकार, षोडशादिषु=सोलह आदि पदार्थ के ज्ञान से, अपि=भी मोक्ष की सिद्धि नहीं है।

व्याख्या—न्याय दर्शन में सोलह पदार्थ कहे गये हैं, परन्तु छः पदार्थ कहने के समान सोलह पदार्थ बताना भी अप्रामाणिक है। इस प्रकार सोलह पदार्थों का ज्ञान होने पर भी मोक्ष की प्राप्ति सम्भव नहीं है ।।८६।।

नाणुनित्यता तत्कार्यत्वश्रुतेः ।।८७।।

सूत्रार्थ—अणु=अणु का, नित्यता=नित्य होना, तत्कार्यत्व=उसके कार्य रूप होने सम्बन्धी, श्रुतेः=श्रुति होने से, न=सिद्ध नहीं होती।

व्याख्या—श्रुति में अणु को कार्य रूप और नष्ट होने वाला कहा है। मनु ने भी "अण्वयो मात्रा विनाशिन्यः" कहकर अणु तत्वों

को विनष्ट होने वाला बताया है। इससे सिद्ध होता है अणु-तत्व नित्य नहीं हो सकते ॥८७॥

न निर्भागत्वं कार्यत्वात् ॥८८॥

सूत्रार्थ—कार्यत्वात्=कार्यत्व होने के कारण, निर्भागत्वम्=भाग रहित होना, न=सिद्ध नहीं होता।

व्याख्या—अणु कार्य है, कारण नहीं। न्याय-दर्शन में परमाणुओं को 'व्यक्त' कहा है। यह तत्व नित्य नहीं, नाशवान भी है, इसलिए, इसका भाग-रहित अथवा अवयव-रहित होना भी सिद्ध नहीं होता ॥८८॥

न रूपनिबन्धनात् प्रत्यक्षनियमः ॥८९॥

सूत्रार्थ—रूपनिबन्धनात्=रूप के निमित्त से, प्रत्यक्षनियमः=प्रत्यक्ष होने का नियम, न=नहीं है।

व्याख्या—केवल रूप से ही प्रत्यक्ष होना माना जाय, ऐसी बात नहीं है। स्थूल द्रव्य बाह्य इन्द्रियों से दिखाई देता है और सूक्ष्म स्पर्श आदि के अनुभव से प्रत्यक्ष होता है। वायु चल रहा है, वह इन्द्रियों से दिखाई न देने पर भी अनुभव में आता है। इस प्रकार रूप से प्रत्यक्ष होना नहीं माना जाता ॥८९॥

न परिमाणचातुर्विध्यं द्वाभ्यांतद्योगात् ॥९०॥

सूत्रार्थ—तत्=उन, द्वाभ्याम्=दोनों के, योगात्=संयोग के कारण, परिमाणचातुर्विध्यम्=परिणाम चार प्रकार का, न=नहीं है।

व्याख्या—वैशेषिक आदि में चार प्रकार के परिणाम कहे गये हैं—अणु, महत् ह्रस्व और दीर्घ। परन्तु, जब दो से ही काम चल सकता है तो चार मानने की क्या आवश्यकता है, क्योंकि ह्रस्व अणु

के अन्तर्गत और दीर्घ महत् के अन्तर्गत माना जाता है। यदि ऐसा नहीं मानते तो अनन्त परिणाम मानने होंगे और फिर उनकी गणना भी न हो सकेगी ॥९०॥

अनित्यत्वेऽपि स्थिरतायोगात् प्रत्यभिज्ञानं सामान्यस्य ॥९१॥

सूत्रार्थ—अनित्यत्व=नाशवान् होने में, अपि=भी, स्थिरतायोगात्=स्थिरता के योग से, सामान्यस्य=सामान्य का, प्रत्यभिज्ञानम्=प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।

व्याख्या—उत्पन्न होने वाली वस्तु, नष्ट अवश्य होगी, फिर भी वे संसार में कुछ समय तक स्थिर रहती हैं और उनके सामान्य धर्म से अर्थात् जो वस्तु जिस रूप की है उसी रूप में रहती है, इस साधारण नियम के कारण वे वस्तुयें प्रत्यक्ष दिखाई देती है ॥९१॥

न तदपलापस्तस्मात् ॥९२॥

सूत्रार्थ—तस्मात्=उससे, तत्=उसका, अपलाप=मिथ्या कथन, न=नहीं माना जा सकता।

व्याख्या—सामान्य धर्म के प्रत्यक्ष ज्ञान से, उसे मिथ्या नहीं कह सकते। मनुष्य का जो रूप है, वह किसी और शरीरधारी का नहीं हो सकता है, इसी प्रकार गाय जिस शक्ल सूरत की होती है, वह शक्ल सूरत और किसी पशु आदि की नहीं हो सकती। इस प्रकार जिसकी जो शक्ल सूरत, आकार प्रकार है, वही उनका सामान्य धर्म है ॥९२॥

नान्यनिवृत्तिरूपत्वं भावप्रतीतेः ॥९३॥

सूत्रार्थ—भावप्रतीतेः=भाव की प्रतीति होने से, अन्य-निवृत्ति-रूपत्वम्=अन्य का निवृत्ति रूप होना, न=सिद्ध नहीं है।

व्याख्या—भाव की प्रतीति—जैसे यह घड़ा है, इसे मैंने कल देखा था। परन्तु तह कल वाला ही घड़ा है, यह पहचान तभी हो सकती है, जब उस घड़े के कल देखे हुए सभी लक्षण रङ्ग बनावट आदि वही हों, यह सातान्य भाव की प्रतीति है। परन्तु यह घड़ा कल वाला ही है, इसकी पहिचान दूसरी वस्तु जैसे वस्त्र, रस्सी आपि से दूसरे रूप का है, इससे नहीं हो सकती ॥९३॥

न तत्वान्तरं सादृश्यं प्रत्यक्षोपलब्धेः ॥९४॥

सूत्रार्थ—प्रत्यक्षोपलब्धेः=प्रत्यक्ष उपलब्धि होने से, सादृश्यम्=समानता में, तत्वान्तरम्=तत्वान्तर, न=नहीं है।

व्याख्या—सामान्य में और सादृश्य में कोई अन्तर नहीं, एक ही बात है। जो घड़ा कल देखा था, वही आज सामने रखा है, इसलिए उसके सामान्य लक्षण को ही सादृश्य कहा जा सकता है, सादृश्य कोई अलग तत्व नहीं है ॥९४॥

निजशक्त्यभिव्यक्तिर्वा वैशिष्ट्यात्तदुपलब्धेः ॥९५॥

सूत्रार्थ—वा=अथवा; निजशक्त्यभिव्यक्तिः=स्वाभाविक शक्ति की प्रकटता (सादृश्य है), क्योंकि, वैशिष्ट्यात्=असाधारण होने से, तदुपलब्धे=उसकी उपलब्धि होती है।

व्याख्या—अपनी स्वाभाविक शक्ति का प्रकट होना भी सादृश्य माना जा सकता है, क्योंकि जिस-जिस पदार्थ की जो-जो शक्ति है, वही उसका सामान्य धर्म है, उसमें अपनी विशेषता होने से ही सामान्य धर्म का प्रकट होना सम्भव है। इस प्रकार सामान्य और सादृश्य में कोई अन्तर नहीं है ॥९५॥

न संज्ञासंज्ञिसम्बन्धोऽपि ॥९६॥

सूत्रार्थ—संज्ञासंज्ञिसम्बन्धः=संज्ञा और संज्ञि का सम्बन्ध अपि=भी, न=सादृश्य नहीं है।

व्याख्या—शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को संज्ञा-संज्ञि-सम्बन्ध कहते हैं। जो व्यक्ति किन्ही दो वस्तुओं के नाम (संज्ञा) को नहीं जानता वह उन दो वस्तुओं की भिन्नता अर्थात् 'यह अलग हैं' यह एक-सी है' इस बात को जान लेता है। इस प्रकार संज्ञा-संज्ञि सम्बन्ध और 'सादृश्य ज्ञान' का एक होना सिद्ध नहीं होता ॥९६॥

न सम्बन्धनित्यतोभयानित्यत्वात् ॥९७॥

सूत्रार्थ—उभयानित्यत्वात्=दोनों के अनित्यत्व से, सम्वन्धनित्यता=सम्बन्ध की नित्यता, न=सिद्ध नहीं है।

व्याख्या—संज्ञा और संज्ञि दोनों अनित्य हैं, इसलिए उनका सम्बन्ध भी नित्य नहीं हो सकता ॥९७॥

नाजः सम्बन्धो धर्मिग्रायकमानबाधात् ॥९८॥

सूत्रार्थ--धर्मिग्राहकमानबाधात्=धर्मी के होने का प्रमाण न होने से, सम्बन्ध=सम्बन्ध, अजः=उत्पन्न न होने वाला अनादि, न=नहीं हो सकता।

व्याख्या—किसी धर्मी का सम्बन्ध अनादि हो, इस वात का कोई प्रमाण नही मिलता। जिसका रूप है, वह नित्य नहीं हो सकता। पृथिवी, आकाश, काल आदि सब पदार्थं अनित्य हैं। जो पदार्थ नित्य हैं, उनका विभाग कभी नहीं होता और 'सम्वन्ध' पद कहा गया है तो जो अलग-अलग होंगे उन्हीं का सम्बन्ध हो सकता है ॥९८॥

न समवायोऽस्ति प्रमाणाभावात् ॥९९॥

सूत्रार्थ—प्रमाणाभवात्=प्रमाण न होने से समवायः=समवाय, न=नहीं, अस्ति=है।

व्याख्या—समवाय नाम के किसी सम्मन्ध का प्रमाण नहीं मिलता। वैशेषिक से द्रव्य, गुण, कर्म, समान्य, विशेष, समवाय यह

छः पदार्थ माने हैं, सांख्य-मत में ऐसी मान्यता न होने से, उनको नित्य नहीं मान सकते ॥९९॥

उभयत्राप्यन्यथा सिद्धेर्न प्रत्यक्षमनुमानं वा ॥१००॥

सूत्रार्थ वा=अथवा, उभयत्रापि=दोनों में ही, अन्यथा =समवाय के बिना, सिद्धेः=सिद्धि है, इसलिए, प्रत्यक्षम्=प्रत्यक्ष और, अनुमानम्=अनुमान, न=नहीं हो सकते।

व्याख्या—न्याय और वैशेषिक में जिसे समवाय-सम्बन्ध कहा है उसी को सांख्यमत में स्वरूप-सम्बन्ध माना है, इसलिए यहाँ समवाय-सम्बन्ध की आवश्यकता ही नहीं है। क्योंकि 'घड़ा लाल है', यह बात स्वरूप से ही सिद्ध हो जाती है तो समवाय के प्रत्यक्ष और अनुमान रूप प्रमाणों से क्यों कार्य लें ॥१००॥

नानुमेयत्वमेव क्रियाया नेदिष्ठस्य तत्तद्वतोरेवापरोक्षप्रतीतेः ॥१०१॥

सूत्रार्थ—नेदिष्ठस्य=निकट वाले व्यक्ति को, परोक्ष-प्रतीतेः=अपरोक्ष की प्रतीति से, तत्=उसे, तद्वत्=उसके समान, एव=ही, क्रियाया=क्रिया का, अनुमेयत्वम्=अनुमान के योग्य होना, एव=ही, न=सिद्ध नहीं होता।

व्याख्या—क्रिया केवल अनुमान से ही नहीं समझी जाती; क्योंकि पास वाले व्यक्ति की क्रिया प्रत्यक्ष देखी जाती है, 'जैसे वह भोजन कर रहा है' 'गाड़ी चल रही है' इस प्रकार क्रिया प्रत्यक्ष से ही सिद्ध है तो अनुमान का प्रश्न ही नहीं उठता ॥१०१॥

न पांचभौतिक शरीरं बहूनामुपादानायोगात् ॥१०२॥

सूत्रार्थ—बहूनाम्=बहुतों के, उपादान-अयोगात्=उपा-

दान का योग न होने से, शरीरम्=शरीर, पांचभौति-पंचभौतिक, न=नहीं है।

व्याख्या—जो लोग शरीर को पाँच भूतों से बना हुआ मानते हैं, उनके विचार को मिथ्या बताते हुए सूत्रकार कहता है कि बहुत-सी अलग-अलग वस्तुओं के मिलने से, उनके द्वारा कोई वस्तु नहीं बन सकती, क्योंकि किसी भी वस्तु के उत्पन्न होने में, उसके उपादान वाले तत्व एक जाति के ही होने चाहिए। इस प्रकार यह शरीर पंचभूतों से बना नहीं माना जा सकता ॥१०२॥

न स्थूलमिति नियम आतिवाहिकस्यापि विद्यमानत्वात् ॥१०३॥

सूत्रार्थ--आतिवाहिकस्य=सूक्ष्म शरीर के, अपि=भी, विद्यमानत्वात्=विद्यमान होने से, स्थूलम्=स्थूल शरीर होने का, इति=ऐसा, नियमः=नियम, न=नहीं है।

व्याख्या—यह कहना भी युक्तिसंगत नहीं है कि स्थूल शरीर ही होता है, क्योंकि एक सूक्ष्म शरीर भी विद्यमान है, जो कि स्थूल शरीर के छोड़ जाने पर आत्मा को देहान्तर में वहन करता अर्थात् ले जाता है, इसलिए 'आतिवाहिक' कहा गया है ॥१०३॥

नाप्राप्तप्रकाशकत्वमिन्द्रियाणामप्राप्तेः सर्वप्राप्तेर्वा ॥१०४॥

सूत्रार्थ—अप्राप्तेः=प्राप्ति के बिना, सर्वप्राप्तेः=सब प्राप्त होने का प्रसंग होने से, इन्द्रियाणाम्=इन्द्रियों का, अप्राप्तप्रकाशकत्वम्=जो प्राप्त नहीं हुआ उसे प्रत्यक्ष करना, न=सम्भव नहीं है।

व्याख्या—किसी विषय के प्राप्त हुए विना ही उसका ज्ञान

नहीं हो सकता, यदि ऐसा हो सकता तो संसार की जितनी भी वस्तुयें हैं उनके उत्पन्न होने से पहिले ही वे सब वस्तुयें दिखाई दे गई होती। इससे सिद्ध है कि जो वस्तु प्रकट नहीं हुई उसे नेत्र इन्द्रिय दिखाने में समर्थ नहीं हो सकती ।,१०४॥

न तेजोऽपसर्पणात् तंजसं चक्षुर्वृत्तितस्तत्सिद्धेः ।१०५।

सूत्रार्थ—तेजोऽपसर्पणात् = तेज के अपसर्पण अर्थात् दूर तक सरकने या पहुँचने से, चक्षु = नेत्र, तैजसम् = तेजस नहीं है, वृत्तित्तः = वृत्ति से, तत्सिद्धेः = उसकी सिद्धि होती है।

व्याख्या—तेज गोलक-स्थान से विषय-स्थान तक पहुँचाता है, इसलिये नेत्र को तैजस मानना चाहिए, यह विचार मिथ्या है। क्योंकि तेज का ग्रहण इन्द्रिय वृत्ति से ही होता है इसलिए नेत्र को तैजस नहीं मान सकते ॥१०५॥

प्राप्तार्थप्रकाशलिङ्गाद्वृत्तिसिद्धिः ॥१०६॥

सूत्रार्थ—प्राप्तार्थप्रकाशलिङ्गात् = प्राप्त विषय को प्रकाशित करने वाले लक्षण से, वृत्तिसिद्धिः = वृत्ति का होना सिद्ध है।

व्याख्या—जो विषय प्राप्त है अर्थात् जो वस्तु सामने दिखाई दे रही है, नेत्र उसको प्रकाशित करता है। इस प्रकार प्राप्त विषय का ग्रहण करना ही वृत्ति है ॥१०६॥

भागगुणाभ्यां तत्वान्तरं वृत्तिःसम्बन्धार्थं सर्पतीति ॥१०७॥

सूत्रार्थ—भागगुणाभ्याम् = भाग और गुण से, तत्वान्तरम् = भिन्न तत्व, वृत्तिः = वृत्ति के, सम्बन्धार्थम् = सम्बन्ध के लिए, सर्पतीति = सरकते हैं।

व्याख्या—वृत्ति, इन्द्रिय का अंश नहीं और न उसका गुण ही है, वह तो एक दूसरा ही तत्व है। वह इन्द्रिय की क्रिया विशेष मानने से ही इन्द्रिय से सम्बन्धित मानी जाती है, इसलिए उसे इन्द्रिय वृत्ति कहते हैं। क्योंकि, वह इन्द्रिय से सम्बन्ध रखने के लिए विजयदेश तक सरकती ।।१०७।।

न द्रव्यनियमस्तद्योगात् ।।१०८।।

सूत्रार्थ—तद्योगात्=उसके, सम्बन्ध होने से, द्रव्यनियमः, =द्रव्य होने का नियम, न=नहीं है।

व्याख्या—द्रव्य में ही क्रिया हो, ऐसा कोई नियम नहीं है। इसलिए, यदि यह कहें कि वृत्ति में योग होने से वृत्ति द्रव्य ही होगी, ठीक नहीं है, जबकि वृत्ति में क्रिया होना प्रतीत होता है तो उसे क्रिया मानना ही ठीक है ।।१०८।।

न देशभेदेऽप्यन्योपादानताऽस्मदादिवन्नियमः ।।१०९।।

सूत्रार्थ—देशभेदे=देश-भेद होने पर, अपि=भी, अन्योपादानता=अन्य उपादानता का, अस्मदादिवत्=हम भूलोक वालों के समान, नियमः, न=नहीं है।

व्याख्या—जैसे, हम भूलोक में रहने वाले मनुष्य इन्द्रियों को आहंकारिक अर्थात् अहंकार से उत्पन्न हुई मानते हैं, वैसे ही अन्य सब लोकों में मानते है। देश-भेद होने पर इन्द्रियों को किसी दूसरे पदार्थ से उत्पन्न नहीं मानते ।।१०९।।

निमित्तव्यपदेशात्तद्व्यपदेशः ।।११०।।

सूत्रार्थ—निमित्तव्यपदेशात्=निमित्त के कथन से, तद्व्यपदेशः=वैसा कहा गया है।

व्याख्या—कभी-कभी किसी निमित्त की प्रधानता प्रकट करने के लिए उपादानता का कथन हो जाता है जैसे किसी का हाथ गर्म लोहे से जल जाये तो कहते हैं कि 'लोहे से हाथ जल गया' परन्तु, लोहे में गर्मी तो अग्नि की होती है, इसलिए जलाने का कार्य अग्नि का है, लोहा तो जलाने के कार्य में निमित्त मात्र है। इसी प्रकार निमित्त रूप से इन्द्रिय आदि को भौतिक कह दिया गया है ॥११०॥

ऊष्मजाण्डजजरायुजोद्भिज्जसांकल्पिकसांसिद्धिकं चेति न नियमः ॥१११॥

सूत्रार्थ-ऊष्मजाण्डजजरायुजोद्भिज्जसांकल्पिकसांसिद्धिकं =उष्मज, अण्डज, उद्भिज्ज, सांकल्पिक सांसिद्धिक इस प्रकार छः भेद हैं, च=और (इससे भिन्न), नियमः=नियम, न =नहीं है।

व्याख्या—देहधारी छः प्रकार के हैं-(१) ऊष्मज-गर्मी से उत्पन्न होने वाले कीड़े, डांस मच्छर आदि, (२) अण्डज-अण्डे से उत्पन्न चींटी, पक्षी, सर्प आदि (३) जरायुज-मनुष्य पशु आदि, (४) उद्भिज्ज-वृक्ष, लता आदि, (५) सांकल्पिक-सृष्टि के आरम्भ में संकल्प से ही उत्पन्न हुए ऋषि आदि, (६) सांसिद्धिक-अत्यन्त सिद्धि प्राप्ति कर लेने पर योगिजन अपने इच्छानुसार देह धारण कर लेते हैं, वह सांसिद्धिक हैं।

सर्वेषुपृथिव्युपादानमसाधारण्यात्तद्व्यपदेशः पूर्ववत् ॥११२॥

सूत्रार्थ—सर्वेषु=सब में, असाधारण्यात्=असाधारण अर्थात् विशिष्ट होने के कारण, पृथिव्युपादानम्=पृथिवी उपादान

मानी गई है, तद्व्यपदेशः=इसका वर्णन, पूर्ववत्=जैसा पहिले कहा गया है, वैसा ही है।

व्याख्या—पृथिवी असाधारण तत्व हैं और प्राणियों में उसी तत्व की अधिकता है, इसलिए शरीर और इन्द्रिय आदि को भौतिक कहा जाता है। जैसे चक्षु आदि इन्द्रिय की उपस्थित देह में होने पर भी आहंकारिक कह चुके हैं, उसी प्रकार देह को पंचभूतों से उत्पन्न कह दिया है ॥११२॥

न देहारम्भकस्य प्राणत्वमिन्द्रियशक्तितत्सिद्धेः ॥११३॥

सूत्रार्थ—इन्द्रियशक्तिः=इन्द्रियों की शक्ति से, तत्सिद्धेः =उसकी सिद्धि होने के कारण, देह=शरीर, आरम्भकस्य= आरम्भक का, प्राणत्वम्=प्राण होना, न=सिद्ध नहीं है।

व्याख्या—देह का आरम्भक वायु है, वह प्राण नहीं हैं। क्योंकि प्राण की सिद्धि इन्द्रियों की शक्ति से ही है। प्राण तो सब करणो की सामान्य वृत्ति है, जब इन्द्रियाँ देह को छोड़ती हैं, तब उनका वृत्ति रूप प्राण देह को छोड़ देता है। आरम्भक का अर्थ उपादान कारण है, इस प्रकार वायु को देह का उपादान माना गया है ॥११३॥

भोक्तुरधिष्ठानाद्भोगायतननिर्माणमन्यथा प्रतिभावप्रसंगात् ॥११४॥

सूत्रार्थ-भोक्तुरधिष्ठानात्=भोक्ता के अधिष्ठान होने से, भोगायतन=भोग के आश्रय रूप शरीर का, निर्माणम्= बनना, प्रतिभावप्रसंगात्=दुर्गन्ध का प्रसंग उपस्थित होने से, सिद्ध होता है।

व्याख्या—भोगों के आश्रय रूप देह का निर्माण तभी होता है

जबकि उसमें भोक्ता निवास करले अर्थात् जीवात्मा के अधिष्ठान होने पर ही देह-रचना होती है। यदि जीवात्मा के बिना शरीर-रचना हो तो वह सड़ जाय और उसमें दुर्गन्ध आदि पैदा हो जाय ।।१४४।।

भृत्यद्वारा स्वाम्याधिष्ठितिर्नैकान्तात् ।।११५।।

सूत्रार्थ-भृत्यद्वारा=भृत्य के द्वारा ही, स्वाम्याधिष्ठितिः=स्वामी का अधिष्ठान है, एकान्तात्=एकान्त होने से, न=नहीं है।

व्याख्या—देह का अधिष्ठाता जीवात्मा माना गया है, परन्तु वह अकेला ही उसमें निवास नहीं कर सकता, वह अपने भृत्य प्राण के द्वारा ही देह में अधिष्ठान करने में समर्थ होता है ।।११५।।

समाधि सुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता ।।११६।।

व्याख्या -समाधि सुषुप्तिमोक्षेषु=समाधि, सुषुप्ति और मोक्ष में ब्रह्मरूपता है।

व्याख्या—समाधि, सुषुप्ति और मोक्ष यह तीनों अवस्थायें ऐसी हैं, जिनमें ब्रह्मज्ञान का लय होकर ब्रह्मरूपता हो जाती है। इसका तात्पर्य यह कि मोक्ष मे जिस ब्रह्म भाव की प्राप्ति होती है, उसका अंश रूप समाधि और सुषुप्ति में भी हो जाता है। समाधि वह है जिसे योगीजन लगाते हैं और सुषुप्ति-स्वप्नावस्था को कहते हैं ।।११६।।

द्वयोः सबीजमन्यत्र तद्धतिः ।।११७।।

सूत्रार्थ—द्वयोः=दोनों में, सबीजम्=बीज सहित है, अन्यत्र=अन्य अवस्था में, तद्धतिः=उसकी हानि है।

व्याख्या-समाधि और सुषुप्ति में भी दुःख आदि का अभाव बीज सहित रहता है अर्थात् इन दोनों अवस्थाओं में भी दुःख आदि कर्म और

उनके भोग बने रहते हैं और इनका अभाव कुछ समय के लिए ही होता हैं, परन्तु, तीसरी अवस्था मोक्ष में कर्म और फल रूप भोगों का क्षय होने से बीज का अभाव हो जाता है अर्थात् दुःख आदि समूल नष्ट हो जाते हैं ॥११७॥

द्वयोरिव त्रयस्यापि दृष्टत्वान्न तु द्वौ ॥११८॥

सूत्रार्थ—द्वयो=दोनों के, इव=समान, त्रयस्य=तीसरी के, अपि=भी, दृष्टत्वात्=देखे जाने से, तु=तो, द्वौ=दो, न=नहीं मान सकते ।

व्याख्या—समाधि और सुषुप्ति के समान ही तीसरी अवस्था मोक्ष भी देखी जाती है । जिन ऋषियों ने आत्म साक्षात्कार किया, वे इस मोक्ष अवस्था का वर्णन करते हैं, इससे केवल दो अवस्थायें ही नहीं मानी जा सकती ॥११८॥

वासनयानर्थख्यापनं दोषयोगेऽपिनिमित्तस्यं प्रधान बाधकत्वम् ॥११९॥

सूत्रार्थ—दोषयोगेः=निद्रा रूप दोष का, संयोग होने से वासनया=वासना के द्वारा, अपि=भी, अर्थख्यापनम्=अर्थ ज्ञान नहीं होता, निमित्तस्य=विषयों के निमित्त होने से, प्रधान-बाधकत्वम्=प्रधान दोष का बाधक होना, न=प्रयोजनीय नहीं है ।

व्याख्या—समाधि में उग्र वैराग्य से वासनायें जोर नहीं पकड़ पातीं, परन्तु सुषुप्ति में निद्रा आदि का दोष उपस्थित हो जाता है, जिससे वासना के स्थित रहते हुए भी बाहरी विषयों का ज्ञान नहीं रहता, इससे वासना आदि निद्रा दोष में बाधक नहीं हो सकते, बल्कि निद्रा अपनी प्रमुखता या प्रबलता से वासनाओं को दबाये रखती है ।

इस प्रकार समाधि और सुपुप्ति दोनों विषयों के दबे रहने से ब्रह्मभाव होना ही माना गया है ॥११६॥

एकः संस्कारः क्रियानिर्वर्तको न तु प्रतिक्रियं संस्कारभेदा बहु कल्पना प्रसक्तेः ॥१२०॥

सूत्रार्थ—एकः=एक, संस्कारः=संस्कार, क्रियानिर्वर्तकः =क्रिया का निर्वर्तक है, न=नहीं, तु=तो, प्रतिक्रियम्=प्रतिक्रिया से, संस्कार भेदा=संस्कार भेद की, बहु=अधिक, कल्पनाप्रसक्तेः=कल्पना का प्रसङ्ग उपस्थित हो जायगा।

व्याख्या—तीव्र आघात से तीर आदि में जो वेग उत्पन्न होता है, वह एक संस्कार है और उसी के द्वारा आगे की क्रिया निरन्तर होती रहती। जब वेग समाप्त हो जाता है तब तीर गिर जाता है और अपने आप नहीं चलता। इस प्रकार प्रत्येक क्रिया को उत्पन्न करने के लिए अलग-अलग संस्कार नहीं होते। यदि ऐसा मान लें तो बहुत से संस्कारों की कल्पना करनी पड़ेगी जो कि व्यर्थ होगी ॥१२०॥

न बाह्यबुद्धिनियमो वृक्षगुल्मलतौषधिवनस्पतितृणः वीरुधादीनामपि भोक्तृभोगायतनत्वं पूर्ववत् ॥१२१॥

सूत्रार्थ—बाह्यबुद्धिनियमोः=बाह्य बुद्धि का नियम, न= नहीं है वृक्षगुल्मलतौषधिवनस्पतितृणवीरुधादीनाम=वृक्ष, गुल्म, लता, औषधि, वनस्पति, तृण, वीरुध आदि का, अपि=भी भोक्तृभोगायतनत्वम्=भोक्ता और भोगायतन (शरीर) होना, पूर्ववत्=पहले के समान है।

व्याख्या—बाहरी विषयों का ज्ञान होने में, एक संस्कार से एक ही क्रिया होना सिद्ध नहीं होता। जैसे मनुष्य, पशु पक्षी आदि के

शरीर भोक्ता आत्मा के लिए आश्रय रूप कहे गये हैं, वैसे वृक्ष, औषधि वनस्पति आदि भी आत्मा के भोग के लिए आश्रय स्वरूप ही हैं ॥१२१॥

स्मृतेश्च ॥१२२॥

सूत्रार्थ—स्मृतेः=स्मृति से, च=भी, (यही सिद्ध होता है)।

व्याख्या—स्मृतियां भी ऐसा कहती हैं। मनुस्मृति में 'शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः' अर्थात् 'शरीर से उत्पन्न होने वाला मनुष्य, कर्म-दोष के कारण स्थावर अर्थात् वृक्ष आदि होता है ॥१२२॥

न देहमात्रातः कर्माधिकारत्ववैशिद्‍यश्रुतेः।१२३।

सूत्रार्थ—वैशिष्ट्यश्रुतेः=श्रुति में विशिष्टता कही जाने से, देहमात्रतः=देहमात्र से, कर्माधिकारत्व=कर्म अधिकार का होना, न=सिद्ध नही होता।

व्याख्या—धर्म-अधर्म की प्राप्ति केवल देह पर ही आश्रित नहीं है। यह तो चेतन आत्मा का ही कार्य हो सकता है, क्योंकि मोक्ष आदि की प्राप्ति के लिये जो अनुष्ठान शास्त्रों में बताये गये हैं. उन्हें करने का अधिकारी वही होता है जो विद्वान्, संयमी और परिश्रमी और धार्मिक विचार वाला एवं त्यागी हो। यह भाव अचेतन शरीर में नहीं हो सकते इसलिये कर्म का अधिकारी शरीर नहीं जीवात्मा है ॥१२३॥

त्रिधा त्रयाणां व्यवस्था कर्मदेहोपभोगदेहोभयदेहाः ॥१२४॥

सूत्रार्थ—त्रयणाम=तीन का, त्रिधा=तीन प्रकार से, कर्मदेहोपभोग देहोभयदेहाः=कर्मदेह उपभोगदेह और उभयदेह, व्यवस्था=इस प्रकार वर्गीकरण का नियम है।

व्याख्या—उत्तम, मध्यम और अधम इन तीनों के शरीर का वर्गीकरण कर्मदेह, उपभोगदेह और उभयदेह के रूप में है। कर्मदेह उन ऋषि मुनियों का कहा गया है जो जीवन भर तप और अनुष्ठान आदि करते रहते हैं। उपभोग देह उनका है जो अपने पहले किये कर्मों का फल भोगने के लिये जन्म धारण करते हैं, इस वर्ग में देवता आदि से लेकर पशु, पक्षी, कीड़े तथा स्थावर-आदि तक सब आते हैं, क्योंकि जो अच्छे कर्मों का फल पाने के अधिकारी हैं वे स्वर्ग आदि में जाकर देवयोनि पाते हैं और जो बुरे कर्म वाले हैं, वे पशु-पक्षी, कीट, वृक्ष आदि योनि में पाप का फल भोगते हैं। और उभयदेह वाला मनुष्य है जो कर्म भी करते हैं और भोग भी भोगते हैं ॥१२४॥

न किंचिदप्यनुशयिनः ॥१२५॥

सूत्रार्थ अनुशयिनः=कर्म-फल भोगे हुए का, किंचित् अपि=कोई भी, न=नहीं होता।

व्याख्या—उपरोक्त तीनों प्रकार के देहों को त्यागने के बाद जब जीवात्मा अपने सूक्ष्म शरीर के सहित सुषुप्ति को प्राप्त होता है, तब किसी योनि को प्राप्त होने से पहिले अर्थात् भोगों को भोगकर निवृत्त होने और किसी विशेष योनि को प्राप्त होने के बीच की अवस्था में उसे 'अनुशयी' कहते हैं। उस समय उसका कर्मदेह, भोगदेह उभय-देह आदि नहीं होता ॥१२५॥

न बुद्ध्यादिनित्यत्वमाश्रयविशेषेऽपि वह्निवत् ॥१२६॥

सूत्रार्थ—आश्रयविशेषे=विशेष आश्रय में, अपि=भी, वह्निवत्=अग्नि के समान, बुद्ध्यादि=बुद्धि आदि का, नित्य-त्वम्=नित्य होना, न=सिद्ध नही होता।

व्याख्या—जैसे किसी काठ में अग्नि लगकर, काठ के जल

जाने पर बुझ जाता है, इसलिए उसे नित्य नहीं मानते, वैसे ही बुद्धि अपने आश्रय रूप जीवात्मा में रहते हुए भी अनित्य है, क्योंकि बुद्धि निश्चय करने वाली वृत्ति को कहते हैं और करण होने के कारण बुद्धि नित्य नहीं मानी जा सकती ॥१२६॥

आश्रयासिद्धेश्च ॥१२७॥

सूत्रार्थ—आश्रय-असिद्धेः=आश्रय के सिद्ध न होने से, च=भी यही मान्यता ठीक है ।

व्याख्या - बुद्धि आदि तो प्रकृति के कार्य हैं, इसलिए अचेतन के कार्य कभी नित्य नहीं होते । वैसे जीवात्मा को 'असङ्ग' कहा है, जो किसी के संग रहने वाला नहीं, वह किसी का आश्रय भी नहीं हो सकता ॥१२७॥

योगसिद्धयोऽप्यौषधादिसिद्धिवन्नापलपनीयाः ॥१२८॥

सूत्रार्थ—औषधादिसिद्धिवत्=औषध आदि की सिद्धि के समान, योग-सिद्धयः=योग की सिद्धियां, अपि=भी, अपलपनीयाः=बकवाद के योग्य, न=नहीं कही जा सकती ।

व्याख्या—जैसे सिद्ध औषधियों के सेवन से रोग दूर होते हुए देखे जाते है, वैसे ही योग-साधन द्वारा अत्यन्त उत्कृष्ट और चमत्कार पूर्ण सिद्धियाँ होती हैं, उन सिद्धियों को कोरी बकवाद नहीं कह सकते । इन सिद्धियों को प्राप्त करने के लिए विभिन्न उपाय ग्रन्थों में मिलते हैं ॥१२८॥

न भूत चैतन्य प्रत्येकादृष्टेः सांहत्येऽपिच सांहत्येऽपिच ॥१२९॥

सूत्रार्थ——च=और,प्रत्येकादृष्टेः=प्रत्येक में न देखे जाने

से, सांहत्ये=संघात में, अपि=भी, भूतचैतन्यम्=भूतों का चैतन्य होना, न=सिद्ध नहीं होता ।

व्याख्या—पृथ्वी आदि पाँचों भूत अचेतन हैं, उनके अतिरिक्त अणुओं से मिलकर जो संघात बनता है, वह भी अचेतन है । संघात का वर्णन पिछले अध्यायों में कर चुके हैं, इसलिए दुवारा कहना व्यर्थ है । इस प्रकार किसी भी भूत से चैतन्यता नहीं देखी जाती, इससे भूतों का चेतन होना सिद्ध नहीं होता ॥१२९॥

॥ इति पंचमोऽध्यायः समाप्त ॥

षष्ठोऽध्यायः

अस्त्यात्मा नास्तित्वसाधनाभावात् ।।१।।

सूत्रार्थ—अस्तित्वसाधनाभावात्=अस्तित्व न होने के साधन (प्रमाण) का अभाव, न=न होने से, आत्मा=आत्मा का अस्तित्व, अस्ति=सिद्ध होता है ।

व्याख्या—किसी वस्तु का अस्तित्व होने या न होने की मान्यता प्रमाण के आधार पर ही बनती है । आत्मा का अस्तित्व प्रत्यक्ष प्रमाण अर्थात् 'मैं हूँ' इस प्रकार की प्रतीति होने से सिद्ध होता है, और साथ ही 'आत्मा नहीं है' इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता, इससे 'आत्मा है' यह मान्यता ठीक है ।।१।।

देहादिव्यतिरिक्तोऽसौ वैचित्र्यात् ।।२।।

सूत्रार्थ—असौ=वह आत्मा, वैचित्र्यात्=विलक्षण होने के कारण, देहादिव्यतिरिक्तः=देह आदि से भिन्न है ।

व्याख्या—देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण आदि सब अचेतन और नाशवान पदार्थ हैं, और आत्मा चेतन तथा नित्य होने से विपरीत लक्षण वाला है । श्रुति में आत्मा को 'साक्षी, चेतन, मुक्त और गुणरहित

कहा है। जब देह से आत्मा निकल जाती है तब शरीर में कोई चेतना दिखाई नहीं देती। इन सब प्रमाणों से यही सिद्ध होता है कि देह आदि से विपरीत लक्षण होने के कारण आत्मा उनसे अलग है ॥२॥

षष्ठीव्यपदेशादपि ॥३॥

सूत्रार्थ—षष्ठी=छठी विभक्ति के, व्यपदेशात्-कथन होने से, अपि=भी (यही मान्यता ठीक है)।

व्याख्या—'मेरा यह देह है' 'मेरा यह हाथ है' इस प्रकार छठी विभक्ति से देहादि का कथन होता है, कोई यह नहीं कहता कि 'मैं देह हूँ' इस प्रकार 'मैं' और 'देह' की विभिन्नता प्रत्यक्ष है। इस भिन्नता के कारण भी आत्मा का देह से भिन्न होना सिद्ध है ॥३॥

न शिलापुत्रवद्धर्मिग्राहकमानाबाधात् ॥४॥

सूत्रार्थ—धर्मिग्राहकमानाबाधात्=धर्मी ग्रहण करने वाले के प्रमाण का अभाव होने से, शिलापुत्रवत्=पत्थर के पुत्र के समान, न=नहीं होता।

व्याख्या—यदि यह कहें कि छठी विभक्ति का कथन जैसे पत्थर के पुत्र नहीं होता, वैसे ही निरर्थक होगा, तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि आत्मा के प्रत्यक्ष प्रमाण से शरीर के आत्मा होने की बाधा हो जाती है अर्थात् शरीर आत्मा नहीं है यह बात सिद्ध हो जाती है ॥४॥

अत्यन्तदुःखनिवृत्त्या कृतकृत्यता ॥५॥

सूत्रार्थ—अत्यन्तदुःखनिवृत्या=अत्यन्त दुःख की निवृत्ति होने से, कृत्यकृत्यता=कृतार्थता होती है।

व्याख्या—सब दुःखों की अत्यन्त समाप्ति होने पर आत्मा की कृतार्थता कही गयी है। कृतार्थता का तात्पर्य मोक्ष से है। शरीर के

सम्पर्क से आकर आत्मा को भोग और मोक्ष दो कार्य रहते हैं। भोगों को भोग लेने के बाद, जब उनसे विरक्ति हो जाती है, तब आत्मज्ञान के लिए प्रयत्न करता है और आत्मज्ञान होने पर भी पूर्ण कृतार्थता अर्थात् मोक्ष की सिद्धि होती है ॥५॥

तथा दुःखात्क्लेशः पुरुषस्य न तथा सुखादभिलाषः ॥६॥

सूत्रार्थ—यथा=जैसे, पुरुषस्य=पुरुष को, दुःखात्क्लेशः =दुःख से क्लेश, तथा=तथा, सुखादभिलाषः=सुख से अभिलाषा नहीं रहती।

व्याख्या—जैसे, दुःख के कारण आत्मा को क्लेश कष्ट या द्वेष आदि का अनुभव होता है और आत्मा उसे दूर करने के प्रयत्न में लगे जाता हैं, वैसे ही सुख का अनुभव होने पर उसे और कोई अभिलाषा नहीं रहती। क्योंकि दु-ख की निवृत्ति का उपाय तो हर कोई करना चाहता है ॥६॥

कुत्रापि कोऽपि सुखीति ॥७॥

सूत्रार्थ—कुत्र=कहीं, अपि=भी, क=कोई, अपि=ही सुखी-इति=सुखी है।

व्याख्या—कहीं-कहीं कोई ही देहधारी सुखी देखने में आता है, अन्यथा सब ओर दुःख ही दुःख दिखाई देता है। परन्तु सांसारिक सुख की भावना मोक्ष की इच्छा करने वाले के लिए तुच्छ है। वास्तविक सुख तो आत्मज्ञान द्वारा मोक्ष प्राप्त होने में ही है ॥७॥

तदपि दुःखशबलमिति दुःखपक्षे निःक्षिपन्ते विवेचकाः ॥८॥

सूत्रार्थ - तत्=वह सुख, अपि=भी, दुखशबलम्=दुःख के प्रभाव से घिरा रहता है, इति=इस प्रकार उस सुख की, विवेचकाः=विवेकीजन, दुःख-पक्षे=दुख रूप में ही, निःक्षिपन्ते =डाल देते या मान लेते हैं।

सूथार्थ—सुख में दुःख मिला रहता है, थोड़ा सुख है तो अधिक दुःख, अथवा कहीं धन है तो सन्तान न होने का दुःख और कहीं सन्तान है तो धन न होने का दुःख है। इस प्रकार सुख के साथ भी दुःख लगा है, इसलिए विवेकी पुरुष उस सुख को भी दुःख ही मान लेते हैं ।।८।।

सुखलाभाभावादपुरुषार्थत्वमिति चेन्न द्वैविध्यात् ।।९।।

सूत्रार्थ—चेत्=यदि कहें कि, सुखलाभ-अभावात्=सुख प्राप्ति के अभाव से, अपुरुषार्थत्वम्=पुरुषार्थपन नहीं है तो,इति =ऐसा कहना, न=ठीक नहीं है, क्योंकि, द्वैविध्यात्=पुरुषार्थ दो प्रकार का कहा गया है।

व्याख्या—जीवात्मा का शरीर-सम्बन्ध भोग और मोक्ष दो कारणों से कहा है, इसलिए भोग और मोक्ष को पुरुषार्थ कहा गया है। इससे, जो लोग सुख की प्राप्ति को पुरुषार्थ कहते हैं, उनकी मान्यता ठीक नहीं है। यदि यह कहें कि मोक्ष में सुख का अभाव है, इसलिए, वह पुरुषार्थ नहीं है तो यह कहना इसलिए ठीक नहीं है कि मोक्ष में दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति हो जाती है, अर्थात् दुःख बिल्कुल नहीं रहते, जब दुःख नहीं रहते तो आनन्द अथवा सुख ही रहता है ।।९।।

निर्गुणत्वमात्मनोऽसंगत्वादिश्रुतेः ।।१०।।

सूत्रार्थ—असङ्गत्वादि=आत्मा का असङ्ग होना बताने

वाली, श्रुतेः=श्रुति है इसलिए, आत्मनः=आत्मा का, निर्गुणत्वम्=निर्गुणत्व सिद्ध होता है।

व्याख्या—आत्मा असङ्ग है "असंगो ह्ययं पुरुषः" ऐसा कहने वाली श्रुति है, इसलिए, आत्मा का निर्गुण होना माना जाता है। क्योंकि आत्मा सुख-दुःख से अलग है और सत्व, रज, तम् इन गुणों के स्वभाव सुख-दुःख जनक है, इसलिए भी आत्मा का निर्गुण होना सिद्ध है ॥१०॥

परधर्मत्वेऽपि तत्सिद्धिरविवेकात् ॥११॥

सूत्रार्थ-अविवेकात्=अविवेक से, परधर्मत्वे=दूसरे का धर्म होने पर, अपि=भी, तत्सिद्धिः=आत्मा को सुख-दुःख की अनुभूति होना सिद्ध होता है।

व्याख्या—गुणों के विकार रूप सुख-दुःखादि आत्मा के धर्म नहीं हैं, देह के धर्म हैं, फिर भी सुख-दुःख आदि का अनुभव आत्मा को ही होता है। उसका कारण यह है कि अज्ञानवश मनुष्य, देह को अपना मानकर, उसके दुःख से दुखी और उसके सुख से सुखी होता है। जब अविवेक हटकर आत्म ज्ञान की प्राप्ति होती है, तब वह सुख-दुःख को भी कुछ नहीं मानता ॥११॥

अनादिरविवेकोऽन्यथा दोषद्वयप्रसक्तेः ॥१२॥

सूत्रार्थ—अविवेकः=अविवेकः=अनादिः=अनादि है, इससे, अन्यथा=विपरीत मानने पर, दोषद्वय=दो प्रकार के दोष का, प्रसक्तेः=प्रसंग उपस्थित हो जायगा।

व्याख्या—जैसे आत्मा अनादि है, वैसे ही अविवेक भी अनादि है, क्योंकि, अविवेक के कारण ही आत्मा को बद्ध अवस्था अर्थात् जन्म-मरण के चक्र में पड़ना होता है। यदि अविवेक को अनादि न माने तो

इसमें दो दोष आयेंगे । यदि अनायास अथवा चाहे जब से उत्पन्न होना मानें तो मुक्त अवस्था वाले को भी अविवेक हो जायगा और वह बन्धन में पड़ेगा और कर्म आदि से उत्पन्न मानें तो उस अविवेक को उत्पन्न करने वाले कर्म को खोजना पड़ेगा और फिर उस कर्म का भी कारण ढूंढ़ना होगा, इससे अनावस्था दोष की प्राप्ति होगी ॥१२॥

न नित्यः स्यादात्मवदन्यथानुच्छित्तिः ॥१३॥

सूत्रार्थ—आत्मवत्=आत्मा के समान, न नित्यः स्यात्=अविवेक नित्य नहीं है, अन्यथा=ऐसा न मानने पर, उसका, अनुच्छित्तिः=नाश नहीं होगा ।

व्याख्या—आत्मा अविनाशी है, वह कभी मरती नहीं और अविवेक अनित्य है । यदि अविवेक को अनित्य न मानें तो अविवेक कभी नष्ट ही नहीं होगा । आत्मज्ञान हो जाने पर या मोक्ष प्राप्त होने पर भी अविवेक बना रहेगा और मोक्ष में जिस ब्रह्मरूप की प्राप्ति बताई गई है, उसकी सिद्धि नहीं होगी ॥१३॥

प्रतिनियतकारणनाश्यत्वमस्य ध्वान्तवत् ॥१४॥

सूत्रार्थ ध्वान्तवत्=अन्धकार के समान, अस्य=इस अविवेक का, प्रतिनियतकारणनाश्यत्वम्=प्रति नियत कारण से नाश होता है ।

व्याख्या—अविवेक को नष्ट करने का जो कारण निश्चित है उसके द्वारा, वह नष्ट हो जाता है । जैसे, अन्धकार को दूर करने का निश्चित उपाय प्रकाश है, वैसे ही अविवेक को दूर करने के लिए उसके निश्चित उपाय विवेक की आवश्यकता है । इससे सिद्ध हुआ कि अविविवेक नित्य नहीं है ॥४१॥

अत्रापि प्रतिनियमोऽन्वयव्यतिरेकात् ॥१६॥

सूत्रार्थ—अत्र-अपि = यहाँ भी, अन्वयव्यतिरेकात् = अन्वय और व्यतिरेक से, प्रतिनियमः = प्रतिनियम है।

व्याख्या—विवेक में भी श्रवण, मनन, ध्यान, चिन्तन आदि ही कारण हैं, कर्म से विवेक की उत्पत्ति नहीं होती, इसलिए कर्म का व्यतिरेक अर्थात् कारण न मानना ही ठीक है, क्योंकि कर्म आदि तो विवेक के बाहरी अङ्ग हैं ॥१५॥

प्रकारान्तरासंभवादविवेक एव बन्धः ॥१६॥

सूत्रार्थ—प्रकारान्तरासभवात् = प्रकार में अन्तर सम्भव न होने से अविवेक = अविवेक, एव = ही, बन्धः = बन्धन है।

व्याख्या—आत्मा का बन्धन में आना अविवेक से ही होता है। अविवेक से दूसरा कोई प्रकार जीव के बन्धन का नहीं है। इसलिए अविवेक ही बन्धन है। इसका तात्पर्य यह है कि आत्मा के बन्धन का कारण अविवेक ही है ॥१६॥

न मुक्तस्य पुनर्बन्धयोगोऽप्यनावृत्तिश्रुतेः ॥१७॥

सूत्रार्थ—अनावृत्तिश्रुतेः = अनावृत्ति बताने वाली, श्रुति होने से, अपि = भी, मुक्तस्य = मुक्त पुरुष का, बन्धयोगः = बन्धन में पड़ना, न = सिद्ध नहीं होता।

व्याख्या—मुक्त पुरुष संसार में फिर नहीं लौटता। इस विषय में छान्दोग्य में 'न च पुनरावर्त्तते" कहकर मुक्त पुरुष का पुनरागमन न होना स्पष्ट कहा है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि मोक्ष प्राप्त कर लेने पर आत्मा जन्म-मरण के चक्र से निकल जाता है, उसे फिर लौटना नहीं पड़ता ॥१७॥

अपुरुषार्थत्वमन्यथा ॥१८॥

सूत्रार्थ अन्यथा=यदि ऐसा न मानें तो, अपुरुषार्थत्वम् =मोक्ष को पुरुषार्थ नहीं मान सकेंगे।

व्याख्या यदि मुक्त पुरुष का संसार में फिर लौटना मान लें तो, मोक्ष की अवस्था ही बदल जायगी और जिस मोक्ष को अत्यन्त पुरुषार्थ कहा गया है, उसे अपुरुषार्थ कहना पड़ेगा। इसलिये मुक्त पुरुष की पुनरावृत्ति न होना ही सिद्ध होता है ॥१८॥

अविशेषापत्तिरुभयोः ॥१९॥

सूत्रार्थ—उभयोः=दोनों अवस्थाओं में, अविशेषापत्तिः =विशेषता न होने की प्राप्ति होगी।

व्याख्या—यदि मुक्त पुरुष को संसार में फिर लौटना मानें तो बद्ध अवस्था और मुक्त अवस्था, दोनों में कोई अन्तर न रहेगा और एक-सी स्थिति हो जायगी और पाप-पुण्य रूप कर्मों में भी कोई अन्तर नहीं रहेगा। इसके परिणाम स्वरूप कोई कर्म नहीं करेगा और मोक्ष-प्राप्ति की इच्छा भी समाप्त हो जायगी ॥१९॥

मुक्तिरन्तरायध्वस्तेर्न परः ॥२०॥

सूत्रार्थ—अन्तरायध्वस्तेः=विघ्न बाधाओं के नाश होने के, परः=अतिरिक्त, मुक्तिः=मुक्ति का और कोई स्वरूप, न=न रहेगा।

व्याख्या—मुक्त पुरुष का पुनरागमन मान लेने पर मुक्ति का स्वरूप विघ्न-बाधाओं के दूर होने तक ही सीमित रहेगा। जिसके सांसारिक कार्यों के विघ्न दूर हुए, उसी को मोक्ष प्राप्ति होना मान लिया जायगा और तब दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति और ब्रह्मानन्द की प्राप्ति भी नहीं हो सकेगी ॥२०॥

तत्राप्यविरोधः ॥२१॥

सूत्रार्थ—तत्रापि=वैसा होने पर भी, अविरोधः=कोई विरोध नहीं है।

व्याख्या—यदि विघ्नबाधाओं के नाश को ही मोक्ष मान लें तो, उसमें भी कोई विरोध नहीं है। क्योंकि अन्तराय, जिसे विघ्नबाधायें भी कहते हैं, अविवेक ही है। क्योंकि, अविवेक अन्तराय अर्थात् विघ्न या दुःख का कारण है। जब, अविवेक से जीव का बन्ध माना गया, तब उसके कार्यों का नष्ट होना भी एक पुरुषार्थ ही समझा जायगा।२१।

अधिकारित्रैविध्यान्न नियमः ॥२२॥

सूत्रार्थ—त्रैविध्यात्=तीन प्रकार के, अधिकारि=अधिकारी होने से, नियमः=नियम, न=नहीं है।

व्याख्या—आत्मज्ञान के अधिकारी तीन प्रकार के होते हैं—उत्तम, मध्यम, निकृष्ट। इसलिये सुनने मात्र से सभी को आत्मज्ञान हो जाये, ऐसा कोई विधान नहीं है। जो, पूर्व-संस्कारवश सुनकर आत्मज्ञान प्राप्त कर लें वे उत्तम अधिकारी माने जाते हैं, परन्तु और प्रकार के अधिकारियों को उनके साधन और लगन के अनुसार आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है ॥२२॥

दार्ढ्यार्थमुत्तरेषाम् ॥२३॥

सूत्रार्थ—दार्ढ्यार्थम्=दृढ़ता के लिये, उत्तरेषाम्=अन्यों को साधनों का प्रयोग करना चाहिए।

व्याख्या—उत्तम प्रकार के अधिकारियों से दूसरे प्रकार के अधिकारियों को मनन, निदिध्यासन आदि का अभ्यास करना चाहिए।

तीसरे प्रकार के अधिकारियों को तो और भी अधिक अभ्यास की आवश्यकता है ।।२३।।

स्थिरसुखमासनमिति न नियमः ।।२४।।

सूत्रार्थ—स्थिरसुखम्-आसनम्=जिस आसन में सुख पूर्वक और स्थिर बैठ सके, उसके अतिरिक्त किसी आसन विशेष का, नियमः=नियम, न=नहीं है ।

व्याख्या—जिस आसन से सुख मालुम हो और चित्त स्थिर रह सके, उस आसन से बैठ कर अभ्यास करे । किसी विशेष आसन पद्मासन आदि से ही सिद्धि प्राप्त होती हो, ऐसा कोई नियम नहीं है । स्थिर से तात्पर्य यह भी है कि हिले-डुले नहीं स्थिर बैठा रहे । यदि स्थिर होकर न बैठेंगे तो चित्त का एकाग्र होना सम्भव नहीं है । इसलिए स्थिरता और सुख से बैठ कर एकाग्र चित्त से अभ्यास करने का ही इस सूत्र में संकेत है ।।२४।।

ध्यानं निर्विषयं मनः ।।२५।।

सूत्रार्थ—मनः=मन का, निर्विषयम्=विषय-रहित हो जाना ही, ध्यानम्=ध्यान है ।

व्याख्या—जब आसन स्थिर हो जाता है, तब बाहरी इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों को छोड़ देती हैं, परन्तु, विषयों में वासना होने के कारण मन की चंचलता नहीं रुकती, इसलिये मन को विषयों से हटा कर आत्म-चिन्तन में लगाना चहिए । जब मन विषय-वासना से हट जाता है, तभी एकाग्रता हो पाती है, उसी अवस्था को ध्यान कहा जाता है ।।२५।।

उभयथाप्यविशेषश्चेन्नैवमुपरागनिरोधाद्विशेषः ।।२६।।

सूत्रार्थ—उभयथा ध्यान लगने या चंचलता रहने इन

दोनों अवस्थाओं में, अपि=भी, अविशेषः=आत्मा में कोई विशेषता नहीं होती, चेत्=यदि ऐसा कहें तो, न=नहीं कह सकते, क्योंकि, एवम्=इस प्रकार, उपराग निरोधात्=उपराग अर्थात् विषयों और दुःखों के निरोध से, विशेषः=आत्मा की बिशेष अवस्था का अनुभव होता है।

व्याख्या—यदि ऐसा कहें कि चाहे ध्यान की अवस्था हो या मन में चंचलता बनी रहे, इसका कोई प्रभाव आत्मा पर नहीं पड़ता क्योंकि, आत्मा असङ्ग है और किसी भी अवस्था में एक जैसी स्थिति में ही रहता है, तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि विभिन्न विषयों के सम्पर्क से दुःख, क्लेश आदि के कारण आत्मा की दुःखपूर्ण स्थिति बनी रहती है और दुःख, क्लेश आदि को निवृत्ति से शान्त चित्तता और आनन्द की प्राप्ति के लिये ध्यान आदि का अभ्यास अत्यन्त आवश्यक है ॥२६॥

निःसंगेऽप्युपरागोऽविवेकात् ॥२७॥

सूत्रार्थ—निःसंगे=संग-रहित आत्मा में, अपि=भी, अविवेकात्=अविवेक के कारण, उपरागः=विषयों की प्राप्ति होती है।

व्याख्या—आत्मा संग-रहित है, अविवेक के कारण उसे भोग, उपभोग रूप दुःख, क्लेश आदि विषयों की प्राप्ति होती है। जब अविवेक हट कर आत्म-ज्ञान हो जाता है, तव इन उपरागों का भी नाश हो जाता है और आत्मा अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है, उस अवस्था को ही अत्यन्त पुरुषार्थ रूप 'मोक्ष' कहा गया है ॥२७॥

जपास्फटिकयोरिव नोपरागः किन्त्वभिमानः ॥२८॥

सूत्रार्थ—जपास्फटिकयोः=जपा (गुड़हल और स्फटिक)

के, इव समान, उपराग=उपराग न=नहीं होता, किन्तु= परन्तु, अभिमानः=भ्रम हो जाता है

व्याख्या—जैसे, जपाकुसुम (गुड़हल का लाल फूल) स्फटिक (बिल्लौर) के पास रख दिया जाने पर, सफेद बिल्लौर लाल रङ्ग का दिखाई देने लगता है, और जब फूल हटा दिया जाता है, तब बिल्लौर अपने वास्तविक सफेद रङ्ग का हो जाता है, वैसे ही, आत्मा में उपराग नहीं हैं, किन्तु बुद्धि के राग द्वेष आदि धर्मों के सम्पर्क से आत्मा भी राग-द्वेष आदि के परिणाम दुःख क्लेश आदि का अपने में ही अभिमान करने लगता है और जैसे ही विवेक होता है, वैसे ही आत्मा का वह भ्रम दूर हो जाता है ॥२८॥

ध्यानधारणाभ्यासवैराग्यादिभिस्तन्निरोधः ॥२९॥

सूत्रार्थ—ध्यानधारणाभ्यासवैराग्यादिभिः=ध्यान,धारणा अभ्यास, वैराग्य आदि के द्वारा, तन्निरोधः=उस उपराग का निरोध हो जाता है ।

व्याख्या—उन दुःख क्लेश आदि उपरागों की निवृत्ति ध्यान, धारणा, अभ्यास और वैराग्य आदि से होती है । 'आदि' पद से विषयों में दोष होने का ज्ञान मान लेना चाहिए । क्योंकि विषयों के दोषों का ज्ञान न होगा तो वैराग्य नहीं हो सकता, वैराग्य से अभ्यास करने का विचार होता है अभ्यास से धारणा अर्थात् प्राणायाम आदि और धारणा से ध्यान की सिद्धि समझनी चाहिये ॥२९॥

लयविक्षेपयोर्व्यावृत्येत्याचार्याः ॥३०॥

सूत्रार्थ—लय=निद्रा और, विक्षेपयोः=विक्षेप वृत्तियों कीं, व्यावृत्याः=निवृत्ति होती है, इति=ऐसा, आचार्याः= आचार्य कहते हैं ।

व्याख्या—निद्रावृत्ति को लय होना कहते है, इनमें सभी वासनायें निद्रा में लीन हो जाती हैं। विक्षेप-वृत्तियाँ चार प्रकार की हैं—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प और स्मृति। यह सभी वृत्तियाँ ध्यान आदि की अवस्था में रुक जाती हैं और इस प्रकार उपरागों का निरोध हो जाता है और ध्यान की पूर्ण सिद्धि होने पर, आत्मा सब प्रकार के उपरागों से छूट जाता है ॥३०॥

न स्थाननियमश्चित्तप्रसादात् ॥३१॥

सूत्रार्थ—चित्तप्रसादात्=चित्त की प्रसन्नता होने से, स्थाननियमः=स्थान का कोई नियम, न=नहीं है।

व्याख्या—चित्त की प्रसन्नता से ही ध्यान आदि की सफलता होती है, यदि चित्त में विषाद हो तो राग-निवृत्ति ही क्या हुई ? यदि चित्त प्रसन्न है तो कहीं भी किसी भी स्थान में बैठ कर ध्यान, धारणादि कर सकते हैं। 'चित्तप्रसादत्' पद से यहाँ यह भी माना जा सकता है कि जहाँ मन चाहे, वहीं साधन करने बैठ जाय, इसके लिये, किसी निश्चित स्थान पर बैठने का ही नियम नहीं है ॥३१॥

प्रकृतेराद्योपादानतान्येषां कार्यत्वश्रुतेः ॥३२॥

सूत्रार्थ—प्रकृतेः=प्रकृति का, आद्योपादानता=आदि उपादान कारण होना, अन्वेषाम्=अन्य पदार्थों के कार्यत्व=कार्य रूप होने का, श्रुतेः=श्रुति में वर्णन होने से, सिद्ध होता है।

व्याख्या—प्रकृति जगत् के सब पदार्थों का प्रथम उपादान कारण है अर्थात् जगत् प्रकृति से उत्पन्न होता है, इसलिये जगत् के सभी पदार्थ प्रकृति के कार्य हैं। ऐसा श्रुति-प्रमाण भी मिलता है। ऋग्वेद (१०-७२-३) में "देवानां युगे प्रथमेऽसतः सदजायतः तदाशा

अन्वजायन्त तदुत्तानपदस्परि" अर्थात् 'देवों की उत्पत्ति से पहिले असत् से सत् उत्पन्न हुआ फिर दिशाऐं और वृक्ष उत्पन्न हुए।' इसी प्रकार अन्य श्रुतियाँ भी उपलब्ध हैं ॥३२॥

नित्यत्वेऽपि नात्मनो योग्यत्वाभावात् ॥३३॥

सूत्रार्थ—नित्यत्वे=नित्य होने पर, अपि=भी, योग्यत्वाभावात्=योग्यता का अभाव होने से, आत्मनः=आत्मा का उपादानकारण होना, न=संभव नहीं है।

व्याख्या—आत्मा नित्य तो है, परन्तु, वह किसी का उपादान कारण अर्थात् किसी को उत्पन्न करने वाला नहीं हो सकता। कोई वस्तु नाशनान् नहीं है तो वह उपादान कारण भी होगी, ऐसा नहीं मान सकते। जो गुण सहित है, वही किसी को उत्पन्न कर सकता है। यह धर्म शरीर का है कि वह संसर्ग से गर्भाधान आदि के द्वारा उत्पत्ति करे, आत्मा ऐसा नहीं कर सकता ॥३३॥

श्रुतिविरोधान्न कुतर्कापसदस्यात्मलाभः ॥३४॥

सूत्रार्थ—श्रुतिविरोधात्=श्रुति का विरोध होने से, कुतर्कापसदस्य=कुतर्क करने वाले व्यक्ति को, आत्मलाभः=आत्मज्ञान की प्राप्ति, न=नहीं हो सकती।

व्याख्या—जो व्यक्ति श्रुति का प्रमाण न होने पर भी आत्मा को उपादान कारण अर्थात् किसी का उत्पन्नकर्त्ता मानते हैं, वह अपने कुतर्क के कारण ही भ्रम में पड़े हुए हैं और जब तक वे वेद आदि के अनुकूल अपने विचार नहीं बना लेते और व्यर्थ के कुतर्कों को नहीं छोड़ देते, तब तक उनको आत्मज्ञान कभी भी नहीं हो सकता ॥३४॥

पारम्पर्येऽपि प्रधानानुवृत्तिरणुवत् ॥३५॥

सूत्रार्थ—पारम्पर्ये=कार्य और कारण की परम्परा का

क्रम होने पर, अपि=भी, अणुवत्=अणु के समान, प्राधानानुवृत्तिः=प्रधान की अनुवृत्ति रहती है।

व्याख्या—जगत् में जितने भी पदार्थ हैं वे सब पंचभूत आदि से उत्पन्न माने जाते हैं, परन्तु वे सब पदार्थ अथवा पंचभूत आदि का भी उपादान कोई अन्य तत्व है, ऐसा अनुमान होने पर प्रधान अर्थात् प्रकृति का ही उपादान होना स्वीकार किया जाता है। इस प्रकार कारण से कार्य की उत्पत्ति होने की परम्परा है। जैसे पृथिवी आदि के अणुओं को पृथिवी जैसा मान कर, उसके भी कारण को जाना जा सकता हैं वैसे ही जगत् के सब पदार्थ प्रकृति की अनुवृत्ति (रचना) रूप माने जाते हैं ॥३५॥

सर्वत्र कार्यदर्शनाद् विभुत्वम् ॥३६॥

सूत्रार्थ—सर्वत्र=सब ओर: कार्यदर्शनात्=कार्य के देखे जाने से, विभुत्वम्=प्रधान का विभु होना माना जाता है।

व्याख्या – संसार में सब ओर कार्य ही कार्य अर्थात् उत्पन्न पदार्थ ही दिखाई देते हैं, इससे प्रधान अर्थात् प्रकृति का व्यापक होना स्वीकार किया जाता है। क्योंकि, जहाँ कार्य होगा, वहाँ कारण भी होना ही चाहिये। इस प्रकार कार्य का मूल उपादान अर्थात् उत्पन्न करने वाला विभु अर्थात् व्यापक हुआ ॥३६॥

गतियोगेऽप्याद्यकारणताऽहानिरणुवत् ॥३७॥

सूत्रार्थ—गतियोगे-अपि=गति का योग होने पर भी, अणुवत्=अणु के समान आद्यकारणता=मूल उपादानता की, अहानिः=हानि नहीं होती।

व्याख्या—जैसे क्रियाशील होने पर भी अणु का स्थूल पदार्थों के उपादान होने वाले सिद्धान्त की हानि नहीं होती, वैसे ही सत्व, रज,

तम इन तीनों गुणों के सक्रिय रहने पर भी उनको मूल उपादान मानने वाला सिद्धान्त अमान्य नहीं ठहरता। क्योंकि, इन तीनों गुणों की सम-अवस्था ही प्रकृति है और यह सम्पूर्ण जगत् उसी सूक्ष्म प्रकृति का कार्य है। प्रकृति की गति, उसकी त्रिगुणात्मक क्षोभ वाली क्रिया ही समझनी चाहिए ।।३७।।

प्रसिद्धाधिक्यं प्रधानस्य न नियमः ।।१८।।

सूत्रार्थ—प्रधानस्य=प्रधान को, आधिक्यम्=अधिकता, प्रसिद्ध=प्रसिद्धि से है, इसलिये नियमः=नियम, न=नहीं है।

व्याख्या—पृथिवी आदि तत्वों के दिखाई देने पर और उन्हें प्रधान अर्थात् प्रकृति का कार्य मान लेने वाली प्रसिद्धि होने पर, प्रकृति का पृथिवी आदि तत्वों से विशिष्ट होना सिद्ध होता है। यदि यह कहें कि कार्य रूप पृथिवी आदि तत्वों के समान ही कारण रूप प्रकृति भी हो, तो वैसा कोई नियम नहीं है, क्योंकि कार्य और कारण में गुणों की समानता हो सकती है किन्तु पूरी तरह समानता नहीं हो सकती ।।३८।।

सत्वादीनामतद्धर्मत्वं तद्रूपत्वात् ।।३९।।

सूत्रार्थ—सत्ववादिनाम्=सत्व आदि गुणों का, तद्रूपत्वात्=उपादान रूप होने से, अतद्धर्मत्वम्=मूल उपादान के धर्म होना नहीं कह सकते।

व्याख्या—सत्व, रज तम मूल उपादान प्रकृति के धर्म नहीं हैं, बल्कि प्रकृति रूप ही है, क्योंकि, इन तीनों गुणों की समान अवस्था ही प्रकृति है। यदि यह गुण प्रकृति से भिन्न होते तो इन्हें उसका धर्म होना मान सकते थे। यह तीनों गुण ही जगत् के मूल उपादान हैं

और जीवात्मा को भोग या मोक्ष के साधन प्रस्तुत करने वाले होकर संसार में प्रकृति रचना करते हैं ॥३९॥

अनुपभोगेऽपि पुमर्थं सृष्टि प्रधानस्योष्ट्रकुंकुमवहनवत् ॥४०॥

सूत्रार्थ—अनुपभोगेऽपि=उपभोग न होने पर भी, उष्ट्रकुंकुमवहनवत्=ऊँट द्वारा केशर ढोने के समान, पुमर्थम्=पुरुष के लिये, प्रधानस्य=प्रधान का, सृष्टिः=सृष्टि-रचना कार्य चलता है।

व्याख्या—जैसे ऊँट केसर को अपने लिये नहीं ढोता, दूसरों के लिए ढोता है, वैसे ही प्रधान अर्थात् प्रकृति सृष्टि-रचना का कार्य अपने उपभोग के लिए नहीं करती, किन्तु, आत्मा के उपभोग के लिए ही करती है। क्योंकि आत्मा को भोग और मोक्ष की प्राप्ति कराने के लिए ही प्रकृति की प्रवृत्ति मानी गई है ॥४०॥

कर्मवैचित्र्यात् सृष्टिवैचित्र्यम् ॥४१॥

सूत्रार्थ—कर्म-वैचित्र्यात्=कर्म की विचित्रता से, सृष्टि-वैचित्र्यम्=सृष्टि विचित्र रूप वाली है।

व्याख्या—कर्म अनेक प्रकार के हैं, इसलिये सृष्टि भी अनेक रूप की होती है, क्योंकि जगत् की रचना कर्मों का फल रूप भोग भोगने के लिए होती है और जीवात्मा को अपने कर्म के अनुसार ही उपभोग रूप साधन उपलब्ध होते हैं। इस प्रकार कर्म ही जगत् की विचित्रता का हेतु है ॥४१॥

साम्यवैषम्याभ्यां कार्यद्वयम् ॥४२॥

सूत्रार्थ—साम्यवैषम्याभ्याम्=समानता और विषमता से, कार्यद्वयम्=कार्य दो प्रकार के हैं।

व्याख्या—सरूप और विरूप अथवा प्रलय और रचना दो प्रकार के कार्य माने गये हैं। सरूप परिणाम वाली अवस्था समान होती है, इसे प्रलय कहते हैं और विरूप परिणाम से विचित्र रूप वाली सृष्टि उत्पन्न होती है। सरूप अवस्था में कार्य अपने कारण में लीन हो जाते हैं और विरूप अवस्था में कार्य अपने-अपने रूप में प्रकट हो जाते हैं ॥४२॥

विमुक्तबोधान्न सृष्टिः प्रधानस्य लोकवत् ॥४३॥

सूत्रार्थ—विमुक्तबोधात्=विमुक्त को बोध होने से, लोकवत्=लोक के समान, प्रधानस्य=प्रधान की; सृष्टि=सृष्टि, न=नहीं होतो।

व्याख्या—जिस मुक्त आत्मा को विवेक होकर आत्मज्ञान हो जाता है, मुक्तात्मा के लिए प्रधान की सृष्टि-रचना वाला कार्य नहीं होता। जैसे संसार में जब कोई व्यक्ति में पड़ जाता है और प्रयत्न किये जाने पर उसका छुटकारा हो जाता है, तब बन्धन में डालने वाला कार्य उसके लिये समाप्त हो जाता है। वैसे ही, बन्धन का नाश करने वाले विभेक से आत्म ज्ञान होने पर, प्रकृति उसके लिए बन्धन वाला कार्य नहीं करती ॥४३॥

नान्योपसर्पणेपि मुक्तोपभोगो निमित्ताभावात् ॥४४॥

सूत्रार्थ—अन्योपसर्पणे—अन्य के लिए प्रकृति का कार्य चलते रहने पर, अपि=भी, निमित्ताभावात्=निमित्त का अभाव होने से, मुक्तोपभोगोः=मुक्त को उपभोग, न=नहीं होता।

व्याख्या—बद्ध पुरुषों के लिए जन्म मरण के चक्र में डालकर भोगों का उपभोग कराने वाला, प्रकृति का कार्य चलता रहता है। उसके

न रुकने पर भी, मुक्त पुरुष के लिए उन कार्यों की कोई आवश्यकता न होने के कारण, उसके लिए उपभोग का विधान नहीं होता, अर्थात् मुक्त पुरुष के लिए प्रकृति बंधन में डालने वाला कार्य नहीं कर सकती ॥४४॥

पुरुषबहुत्वं व्यवस्थातः ॥५४॥

सूत्रार्थ—व्यवस्थातः=अवस्था (अवस्था भेद) से पुरुष-बहुत्वम्=पुरुषों का बहुत होना सिद्ध है।

व्याख्या—आत्मा के वन्ध और मोक्ष होने से उसका वहुत होना सिद्ध होता है। सुख, दुःख राग द्वेष आदि की अवस्थाएँ मनुष्य में पाई जाती हैं। कोई सुखी है, कोई दुःखी—इस प्रकार एक जैसी अवस्था सब की नहीं होती। यदि सब में एक ही आत्मा होती तो किसी को दुःख, किसी को सुख नहीं होता, सभी सुखी या सभी दुःखी होते अथवा एक के मुक्त होते ही सब मुक्त हो जाते या बद्ध पुरुषों के साथ मुक्त भी दिखाई पड़ते। ऐसा न होने से आत्माओं का वहुत होना सिद्ध है ॥४५॥

उपाधिश्चेत् तत्सिद्धौ पुनर्द्वैतम् ॥४६॥

सूत्रार्थ—चेत=यदि, उपाधिः=उपाधि को मानें तो, तत्सिद्धौ=उसके सिद्ध होने पर, पुनः=फिर, द्वैतम्=अनेक होने का सिद्धान्त=स्वीकार करना पड़ेगा।

व्याख्या—अपने रूप को दूसरे में ले जाकर प्रकट करने को उपाधि कहते हैं। यदि जन्म-मरण आदि को उपाधि भेद से एक पुरुष में ही मानें अर्थात् एक आत्मा के ही अनेक रूप मान लें तो ऐसा मानने से भी एक होना सिद्ध नहीं होता क्योंकि उपहित अर्थात् जिसमें उपाधि

रखी गई, वह और उपाधि दो अलग-अलग पदार्थ हो गये, इससे भी यही सिद्धान्त मानना पड़ेगा कि आत्मा एक नहीं, अनेक हैं ॥४६॥

द्वाभ्यामपि प्रमाणविरोधः ॥४७॥

सूत्रार्थ- द्वाभ्याम्=पुरुष और अविद्या दो मानने से प्रमाणविरोध:=प्रमाण का विरोध उपस्थित होगा।

व्याख्या --यदि उपाधि को अविद्या से उत्पन्न माना जाय तो अविद्या का अस्तित्व स्वीकार करना ही पड़ेगा। यदि ऐसा न मानें तो अविद्या का अस्तित्व न होने से जन्म मरण आदि की व्यवस्था न रहेगी और सभी के मुक्त होने से जगत् भी दिखाई न देगा। इस प्रकार अविद्या का अस्तित्व सिद्ध होता है और प्रतिवादी जिस प्रमाण के आधार पर एकमात्र वस्तु का अस्तित्व मानते हैं, उस प्रमाण से भी विरोध उपस्थित हो जायगा ॥४७॥

द्वाभ्यामप्यविरोधान्न पूर्वमुत्तरं च साधकाभावात् ॥४८॥

सूत्रार्थ - द्वाभ्याम्=दोनों का अस्तित्व मानने से, अपि =भी, अविरोधात्=विरोध न बनने से, च=और, साधकाभावात्=साधक प्रमाण के अभाव से, पूर्वम्-उत्तरम्=पहिला, पिछला कथन, न=ठीक सिद्ध नहीं होता।

व्याख्या—यदि अविद्या और पुरुष का अस्तित्व स्वीकार किया जाता है तो इसमें कोई विरोध नहीं है। परन्तु, प्रथम पक्ष वाले का यह कहना कि आत्मा के जन्म-मरण आदि बन्धन की व्यवस्था उपाधि द्वारा सम्पन्न होती है, कभी नहीं मानी जा सकती। साथ ही दूसरे पक्ष वाले का भी यह कहना कि आत्मा अथवा पुरुष एक ही मान लेना चाहिए और

एक आत्मा ही विभिन्न रूपों में दिखाई देता है, मानने योग्य नहीं है, क्योंकि इन दोनों मान्यताओं को सिद्ध करने के लिए कोई ठीक प्रमाण उपलब्ध नहीं है ।।४८।।

प्रकाशतस्तत्सिद्धौ कर्मकर्तृविरोधा ।४६।।

सूत्रार्थ--प्रकाशतः=प्रकाश से, तत्=उस आत्मा को सिद्धौ=सिद्धि होने पर, कर्मकर्त्तविरोधः=कर्म और कर्त्ता का विरोध होगा ।

व्याख्या—यदि प्रकाश अथवा ज्ञान को ही आत्मा मानें तो कर्म और कर्त्ता की सिद्धि नहीं होगी। प्रकाशक ही प्रकाश करता है—ऐसा ऐखा जाता है, प्रकाश को ही प्रकाश होते नहीं देखा जाता। ज्ञान भी कर्म है, उसको सिद्धि से आत्मा का ज्ञानी होना कहा जा सकता है, परन्तु, ज्ञान का ज्ञानी होना मान नहीं सकते ।।४६।।

जडव्यावृत्तो जडं प्रकाशयति चिद्रूपः ।।५०।।

सूत्रार्थ – जडव्यावृत्तः=अचेतन तत्व से विपरीत, चिद्रूपः =चैतन्य तत्व, जडम्=अचेतन तत्व को, प्रकशियति=प्रकाशित करता है ।

व्याख्या—चेतन-स्वरूप आत्मा, अचेतन तत्व से बिल्कुल भिन्न है, उसी चेतन आत्मा के द्वारा अचेतन शरीर की समस्त क्रियाएँ चलती हैं। इस सूत्र में 'प्रकाशयति' पद से प्रेरणा करना ही माना जा सकता है। इस प्रकार चेतन आत्मा की प्रेरणा से ही अचेतन शरीर क्रियाशील होता है यह प्रत्यक्ष सिद्ध है ।।५०।।

न श्रुतिविरोधो रागिणां वैराग्याय तत्सिद्धेः ।।५१

सूत्रार्थ—रागिणाम्=विषयों में फँसे मनुष्यों को, वैरा-

ग्याय=वैराग्य के लिये आदेश होने की, तत्सिद्धेः=उसकी सिद्धि से, इसमें, श्रुतिविरोध = श्रुति का विरोध, न=नहीं है ।

व्याख्या—आत्मा का अनेक होना इस बात से भी सिद्ध है कि विषयों में पड़े हुए अवस्था प्राप्त पुरुषों के लिए वैराग्य का विधान किया गया है । शास्त्रों में चार आश्रम कहे गये हैं—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास । ब्रह्मचर्य आश्रम तब तक के लिये है, जब तक कि बालक ज्ञान प्राप्त करके घर सँभालने के योग्य न हो जाय, गृहस्थाश्रम तब तक के लिये है जब तक कि गृहस्थ-सुख का उपभोग करते हुए पुत्र आदि को गृहस्थी सँभालने के योग्य बनादे, वानप्रस्थ आश्रम मे धीरे-धीरे गृहस्थ से विरक्त होने और सन्यास आश्रम में पूर्ण त्याग अर्थात् वैराग्य का विधान है । इस प्रकार वैराग्य के लिये प्रोत्साहन होने से भी आत्मा का अनेक होना सिद्ध होता है और इसमें वेद प्रमाण से भी विरोध नहीं होता ।.५१।।

जगत्सत्यत्वमदुष्टकारणजन्यत्वाद् बाधकाभावात् ।।५२।।

सूत्रार्थ—अदुष्टकारणजन्यत्वात्=दोष-रहित कारण से उत्पन्न होने से, और बाधकाभावात्=निषेध का कोई प्रमाण न होने से, जगत्-सत्यत्वम्=जगत का सत्य होना सिद्ध है ।

व्याख्या—जगत् प्रत्यक्ष रूप में स्थित है, इसलिए वह सत्य है । किसी पदार्थ को असत्य सिद्ध करने के लिए प्रमाण की आवश्यकता होती है, और जगत् के असत्य होने के सम्बन्ध में कोई प्रमाण नहीं मिलता है, इसलिए भी सत्य है । फिर यह जगत् सत्व, रज, तम् इन तीन गुणों के मूल उपादान तत्वों से उत्पन्न हुआ है और यह प्रकृति रूप तीनों गुण निर्दोष हैं इसलिए भी जगत् को असत्य नहीं कह सकते ।

इस प्रकार नाशवान् होते हुए भी जगत् का सत्य होना सिद्ध होता है ।।५२।।

प्रकारान्तरासंभवात् सदुत्पत्तिः ।।५३।।

सूत्रार्थ—प्रकारान्तरासंभवात्=अन्य प्रकार के असंभव होने से, सदुत्पत्ति=सत् का उत्पन्न होना सिद्ध है ।

व्याख्या—जैसे पहिले वर्णन किया गया, उसी प्रकार जगत् की उत्पत्ति होती है, उसकी उत्पत्ति का कोई दूसरा कारण नहीं है, सत्य प्रकृति से उत्पन्न होने के कारण जगत् सत्य ही है ।।

अहंकारः कर्त्ता न पुरुषः ।।५४।।

सूत्रार्थ—अहङ्कारः=अहंकार, कर्त्ता=कर्त्ता है, पुरुषः=पुरुष, न=नहीं है ।

व्याख्या—अहङ्कार ही कर्त्ता है, क्योंकि कर्त्ता और भोक्ता की भावना अहङ्कार से उत्पन्न होती है जैसे 'मैं कर रहा हूँ' 'मैं भोग रहा हूँ' इत्यादि । भावना अहङ्कार के सम्पर्क से ही उभरती है, पुरुष अकेला ही ऐसी भावना नहीं ला सकता । इसलिए पुरुष को कर्त्ता न मान कर अहङ्कार को मानना ही उचित है ।।५४।।

चिदवसाना भुक्तिस्तत्कर्मार्जितत्वात् ।।५५।।

सूत्रार्थ—तत्कर्मार्जितत्वात्=आत्मा के संचित कर्म से, भुक्तिः=भोग का, अवसाना=अवसान (समाप्ति या प्राप्ति) चित्=चेतन में है ।

व्याख्या—अहङ्कार को कर्त्ता कहने से भी भोग चेतन आत्मा को ही प्राप्त होता है, क्योंकि, उसके द्वारा संचित किए कर्मों से फल रूप भोगों की उत्पत्ति होती है । परन्तु, इसमें शंका होती है कि अहंकार कर्त्ता है तो भोक्ता भी क्यों नहीं है ? तो इसका समाधान यह है कि

अपने-अपने अहंकार-अन्तःकरण द्वारा किए हुए कर्म, उस आत्मा के ही कर्म हैं, इसलिए एक के कर्म का फल दूसरे को प्राप्त होने का दोष सिद्ध नहीं होता ॥५५॥

चन्द्रादिलोकेऽप्यावृत्तिर्निमित्तसद्भावात् ॥५६॥

सूत्रार्थ—निमित्तसद्भावात्=निमित्त के बने रहने से, चन्द्रादिलोके=चन्द्र आदि लोक में, अपि=भी, आवृत्तिः=आवृत्ति है।

व्याख्या—कर्म फल का भोग करने के लिए आत्मा चन्द्रमा आदि लोकों में जाकर और वहाँ के सुखों को भोगकर संसार में फिर लौटता है। क्योंकि, जन्म-जन्मान्तर का अविवेक बिल्कुल ही नष्ट नहीं हो जाता और जब तक अविवेक रहता है तब तक संसार में आवागमन भी नहीं रुकता। इससे सिद्ध है कि अविवेक के कारण ही जन्म-मरण और ऊपर के लोकों से भी आत्मा की पुनरावृत्ति होती है ॥५६॥

लोकस्य नोपदेशात् सिद्धिः पूर्ववत् ॥५७॥

सूत्रार्थ—पूर्ववत्=पहिले कहे के समान, लोकस्य=किसी भी लोक के निवासी के, उपदेशात्=उपदेश मात्र से, न=विवेक प्राप्त नहीं हो जाता।

व्याख्या—जैसे, इस लोक में केवल उपदेश सुनने से ही विवेक प्राप्त न होने की बात पहिले कही जा चुकी है वैसे ही ऊपर के लोक में पहुंचकर, वहाँ रहने वाले किसी विद्वान से उपदेश सुन लेने से ही विवेक प्राप्त हो जाना संभव नहीं है। किन्तु, विवेक-प्राप्ति तो विषयों का त्याग करके उचित साधनों के द्वारा ही होगी—यह बात भी पहिले ही बता चुके हैं ॥५७॥

पारम्पर्येण तत्सिद्धौविमुक्तिश्रुतिः ॥५८॥

सूत्रार्थ पारम्पर्येण=परम्परा से, तत्सिद्धौ=विवेक के सिद्धि होने से विमुक्ति=मोक्ष, श्रुतिः=श्रुति सम्मत है।

व्याख्या—परम्परा से यही होता आ रहा है कि मनुष्य जब विषयों से विरक्त हो जाता है तभी उसे विवेक की प्राप्ति होती है और जब विवेक अर्थात् आत्म-ज्ञान हो जाता है, तभी मोक्ष मिल सकता है। श्रुतियाँ भी ऐसा ही कहती हैं। वृहदारण्यक (७-४-१२) "आत्मज्ञान चेद्विजानीयात्" के अनुसार आत्मा को जानकर मोक्ष मिलने का कथन सिद्ध होता है ॥५८॥

गति श्रुतेश्च व्यापकत्वेऽप्युपाधियोगाद्भोगदेश-काललाभो व्योमवत् ॥५९॥

सूत्रार्थ—च=और, गतिश्रुतेः=गति सुनने से, व्यापकत्वे=आत्मा के व्यापक होने पर, अपि=भी, व्योमवत्=आकाश के समान, भोगदेशकाललाभः=भोग देश और काल की प्राप्ति, उपाधियोगात्=शरीर आदि के सम्बन्ध से होती है।

व्याख्या—गति श्रुति अर्थात् आत्मा के एक देश से दूसरे देश में जाने की श्रुति होने से भी वह आत्मा स्वयं ही भोग आदि को ग्रहण नहीं कर सकता। वह अपनी उपाधि अर्थात् भोग आदि प्राप्त कराने वाले साधन रूप शरीर के द्वारा ही भोग भोगने के स्थान और समय को प्राप्त होता है। तात्पर्य यह है कि आत्मा एक जन्म से दूसरे जन्म में जाने की सामर्थ्य तो रखता है, परन्तु जब तक वह स्थूल शरीर धारण नहीं कर लेता तब तक वह भोगों को नहीं भोग सकता ॥५९॥

अनधिष्ठितस्य पूतिभावप्रसंगान्नतत्सिद्धिः ॥६०॥

सूत्रार्थ—अनधिष्ठितस्य=बिना आत्मा के शरीर का

पूतिभाव-प्रसंगात्=सड़ने या दुर्गन्ध पूर्ण होने का प्रसङ्ग होने से, न तत्सिद्धिः=शरीर का समर्थ होना सिद्ध नहीं है।

व्याख्या—मनुष्य जितने कार्य करता है, वह सब आत्मा के बिना नहीं किये जा सकते। यदि यह कहें कि शरीर को ही कर्त्ता या या भोक्ता मान लें तो यह मान्यता ठीक नहीं होगी, क्योंकि यदि विना आत्मा के शरीर कुछ कर सकता तो मरण काल में आत्मा के निकलने पर शरीर निश्चेष्ट नहीं होता। परन्तु, यह प्रत्यक्ष है कि आत्मा के विना शरीर चेष्टा-रहित पड़ा रहता है और यदि उसका शीघ्र ही संस्कार न कर दिया जाय अथवा किसी वस्तु के योग से उसे संभालकर न रखा जाय तो सड़कर दुर्गन्ध आने लगती है। इससे सिद्ध है कि आत्मा के विना, शरीर किसी काम का नहीं रहता ॥६०॥

अद्रष्टद्वाराचेदसम्बद्धस्य तदसंभवाज्जलादिवदंकुरे ॥६१॥

सूत्रार्थ—चेत=यदि, अदृष्ट द्वारा=शरीर को अदृष्ट के द्वारा उत्पन्न हुआ मानें तो, असम्बद्धस्य=आत्मा से अलग तत्वों का, तदसम्भवात्=देह रचना में कारण रूप होना सम्भव न होने से, जलादिवत् अंकुर=अंकुर की रचना में जल आदि के समान (यह मान्यता ठीक नहीं होगी)।

व्याख्या—जैसे, जितने अंश में गीलापन और गर्मी की, बीज से अंकुर उत्पन्न होने की आवश्यकता होगी, उतना ही जल आदि मिलने से अंकुर उत्पन्न होगा। वैसे ही, जो तत्व आत्मा के लिये जितने अंश में उपयोगी होंगे, उन तत्वों का उतने अंश में सम्बन्ध होने से शरीर रचना सम्भव होगी। आत्मा के लिए उपयोगी सिद्ध न होने वाले अथवा विरोधी तत्वों से शरीर-रचना हो ही नहीं सकती। यदि ऐसा कहें कि

आत्मा के बिना ही केवल अदृष्ट के द्वारा ही, शरीर-रचना होती है, तो ऐसा भी नहीं मान सकते । क्योंकि आत्मा के भोग रूप पहिले किए हुए अच्छे या बुरे कर्मों को अदृष्ट कहते हैं, वे आत्मा के लिए भोगों की रचना में तो निमत्त रहते हैं (अर्थात् भोगों की रचना धर्म-अधर्म रूप कर्म के अनुसार होती है ।), परन्तु वे शरीर के उपादान अर्थात् उत्पन्न करने वाले नहीं हो सकते ।।६१।।

विशिष्टस्य जीवत्वमन्वयव्यतिरेकात् ।।६३।।

सूत्रार्थ—अन्वयव्यतिरेकात् = अन्वय-व्यतिरेक से विशिष्टस्य = विशिष्ट आत्मा का, जीवत्वम = जीव होना माना है ।

व्याख्या—"जीव वल प्राणधारयोः" के अनुसार 'जीव' का अर्थ 'प्राणी' हुआ, परन्तु, अहंकार आदि कारणों की विशेषता होने पर ही उसे जीव कह सकते हैं । क्योंकि अहंकार के अन्वय अर्थात् संयोग से प्राण धारण और व्यतिरेक अर्थात् वियोग से प्राण-रहित होता देखा जाता है । इस प्रकार, अन्वय और व्यतिरेक से ही आत्मा को जीव कहना, न कहना सिद्ध होता है । मुक्त अवस्था में उसकी 'जीव' संज्ञा नहीं होती, तब उसे 'आत्मा' या 'पुरुष' कहा जाता है ।।६३।।

अहङ्कारकर्त्रधीना कार्यसिद्धिर्नेश्वराधीना प्रमाणाभावात् ।।६४।।

सूत्रार्थ—अहङ्कारकर्त्रधीना = अहंकार रूप कर्त्ता के आधीन कार्यसिद्धि = कार्य की सिद्धि है, प्रमाणाभावात = प्रमाण का अभाव होने से, ईश्वराधीना = ईश्वर के आधीन, न = नहीं है ।

व्याख्या—सभी सांसारिक कार्य अहंकार-विशिष्ट जीव के

अधीन हैं, ईश्वर के अधीन नहीं है, क्योंकि, भोगों में आकर्षण बना रहने से आत्मा ही अहंकार आदि से युक्त रह कर उन्हें कार्य करने के लिये प्रेरित करता रहता है। इसी लिये उसे उन कर्मों का फल भोगना पड़ता है। यदि उन कर्मों का कर्त्ता ईश्वर होता या ईश्वर की प्रेरणा से वे कर्म किये जाते तो उनका फल-भोग भी ईश्वर ही करता, जीवात्मा क्यों करता ? यदि ईश्वर के लिए कर्मों को जीवात्मा भोगता तो यह अन्याय होता और इसका दोष ईश्वर पर लगता। इससे सिद्ध है कि जीवात्मा ही कर्त्ता और भोगता है ॥६४॥

अदृष्टोद्भूतिवत् समानत्वम् ॥६५॥

सूत्रार्थ—अदृष्टोद्भूतिवत्=अदृष्ट से उत्पन्न करने के समान, समानत्वम्=पुरुषार्थ से उत्पन्न कहना भी वैसा ही है।

व्याख्या—जैसे अदृष्ट से उत्पन्न होना कहा है, उसी प्रकार पुरुषार्थ से शरीर का उत्पन्न होना कहा गया है। अदृष्ट जन्म धारण में निमित्त मात्र है, वैसे ही पुरुषार्थ भी निमित्त है। उपादान कारण यह दोनों ही नहीं हैं। पुरुषार्थ दो हैं—भोग और मोक्ष, भोग वाले कर्मों से प्रारब्ध बनता है और उसी के अनुरूप पुनर्जन्म धारण करना होता है और मोक्ष होने पर पुनर्जन्म नहीं होता ॥६५॥

महतोऽन्यत् ॥६६॥

सूत्रार्थ—महतः=‘महत्’ से, अन्यत्=अन्य ज्ञान होता है।

व्याख्या—महत्तत्व के द्वारा सांसारिक कर्मों से दूसरे कर्म अर्थात् विवेक उत्पन्न होता है। महत्तत्व ही वह शुद्ध बुद्धि तत्व है जो उत्कट वैराग्य की भावना जागृत करता है। जब तक बुद्धि मलीन रहती है, तब तक विवेक नहीं हो सकता क्योंकि, विषयों में आसक्ति बनी रहने तक विवेक का लाभ सम्भव नहीं है ॥६६॥

कर्मनिमित्तः प्रकृतेः स्वस्वामिभावोद्वोऽप्यनादिर्बीजांकुरवत् ॥६७॥

सूत्रार्थ—बीजांकुरवत्=बीज और अंकुर के समान, प्रकृतेः=प्रकृति का, स्वस्वामिभावः=अपने स्वामी होने का भाव, कर्मनिमित्तः=कर्म रूप निमित्त से, अपि=भी, अनादि=अनादि है।

व्याख्या—जैसे वीज और अंकुर में कौन पहिले उत्पन्न हुआ, यह नहीं कहा जा सकता, वैसे ही प्रकृति जीव की स्वामिनी होते हुए भी, जीव कर्म के कारण उसके सम्पर्क में आता है, इसलिये पहिले आत्मा उत्पन्न हुआ या प्रकृति यह नहीं कह सकते, क्योंकि, आत्मा और पुरुष दोनों ही अनादि हैं उनकी उत्पत्ति कब हुई, यह कोई नहीं जानता ॥६७॥

अविवेकनिमित्तो वा पञ्चशिखः ॥६८॥

सूत्रार्थ—वा=अथवा, अविवेक निमित्तः=अविवेक के कारण, (आत्मा प्रकृति से सम्पर्क करता है), पञ्चशिखः=आचार्य पञ्चशिख का ऐसा मत है।

व्याख्या—पंचशिख का मत है कि जीवात्मा अविवेक के कारण ही प्रकृति के सम्पर्क में आकर बन्धन में पड़ता है, और वह अविवेक भी अनादि है। तात्पर्य यह है कि जब तक अविवेक रहता है तब तक जन्म-मरण रहता है और अविवेक के नष्ट होने पर ही मोक्ष की प्राप्ति होती है ॥६८॥

लिङ्गशरीरनिमित्तक इति सनन्दनाचार्यः ॥६९॥

सूत्रार्थ—लिङ्गशरीरनिमित्तकः=सूक्ष्म शरीर से निमित्त से आत्मा प्रकृति के सम्पर्क में आता है, इति=ऐसा, सनन्दनाचार्य=आचार्य सनन्दन का मत है।

व्याख्या—आचार्य सनन्दन कहते हैं कि जब तक लिंग-शरीर अर्थात् सूक्ष्म शरीर के सम्पर्क में आत्मा नहीं आता, तब तक मुक्त रहता है और जैसे ही लिंग शरीर से आवेष्ठित होता है, वैसे ही उसे प्रकृति के सम्पर्क में आना होता है और जन्म-मरण का चक्र आरम्भ हो जाता है ॥६९॥

यद्वा तद्वा तदुच्छित्तिः पुरुषार्थस्तदुच्छित्तिः पुरुषार्थं ॥७०॥

सूत्रार्थ—यद्वा तद्वा=जिस किसी भी निमित्त से हो, तदुच्छित्तिः=उसका नष्ट होना ही, पुरुषार्थः=पुरुषार्थ है।

व्याख्या—आत्मा प्रकृति के सम्पर्क में चाहे जिस निमित्त से आवे, उस सम्पर्क को नष्ट करना ही जीवन का परम लक्ष्य होना चाहिए। उसी से दुःखों की परम निवृत्ति हो सकती है, प्रकृति से सम्पर्क न रहने को ही मोक्ष कहते हैं और उसका नष्ट होना ही पुरुषार्थ है—उसे ही अत्यन्त पुरुषार्थ कहा गया है। "तदुच्छिचत्तिः पुरुषार्थः" का दो बार कहा जाना अध्याय और ग्रन्थ की समाप्ति का सूचक है ॥७०॥

॥ इति षष्ठोऽध्यायः समाप्त ॥

॥ सांख्य-दर्शन समाप्तः ॥



भारतीय संस्कृति के श्रेष्ठतम धर्म-ग्रन्थ

१—ऋग्वेद ४ खण्ड	....	३६)
२—अथर्व वेद २ खण्ड	....	१८)
३—यजुर्वेद	....	९)
४—सामवेद	....	८)
५—वेद महाविज्ञान	....	१२)
६—शतपथ ब्राह्मण	...	१०)
७—१०८ उपनिषद् ३ खण्ड	....	३०)
८—उपनिषद् रहस्य	....	६)५०
९—बृहदारण्यकोपनिषद्	....	४)
१०—छान्दोग्योपनिषद्	....	४)
११—वैशेषिक दर्शन	....	५)७५
१२—न्याय दर्शन	....	५)७५
१३—सांख्य दर्शन	....	५)७५
१४—योग दर्शन	....	५)७५
१५—वेदान्त दर्शन	...	५)७५
१६—मीमांसा दर्शन	....	७)५०
१७—२० स्मृतियां २ खण्ड	....	२०)
१८—मनुस्मृति	....	६)७५
१९—योग वासिष्ठ २ खण्ड	..	२४)
२०—कौटिल्य अर्थशास्त्र	....	१२)
२१—ब्रह्म सूत्र	....	१०)
२२—गृह्य सूत्र संग्रह	....	१०)
२३—पञ्चदशी	....	१२)७५
२४—विचार सागर	...	११)
२५—विचार चंद्रोदय	....	२)
२६—पञ्चीकरण	...	३)५०
२७—उपदेश साहस्री	....	५)७५
२८—वृत्ति प्रभाकर	....	७)५०
२९—सौन्दर्य लहरी	....	४.७५

प्रकाशकः—संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब, वेदनगर,

बरेली-२४३००१ (उ० प्र०)



